आलोचना व निबन्ध

धीरे बहो, गंगा !

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत—

गिद्धा (१९३६)

दीवा बले सारी रात (१९४१)

मैं हूँ खानाबदोश (१९४१)

गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)

Meet My People (१९४६)

धरती गाती है (१९४८)

कविता—

धरती दीयाँ वाजाँ (१९४१)

कहानियाँ—

कुंग पोश (१९४१)

नये देवता (१९४३)

और बांसुरी बजती रही (१९४६)
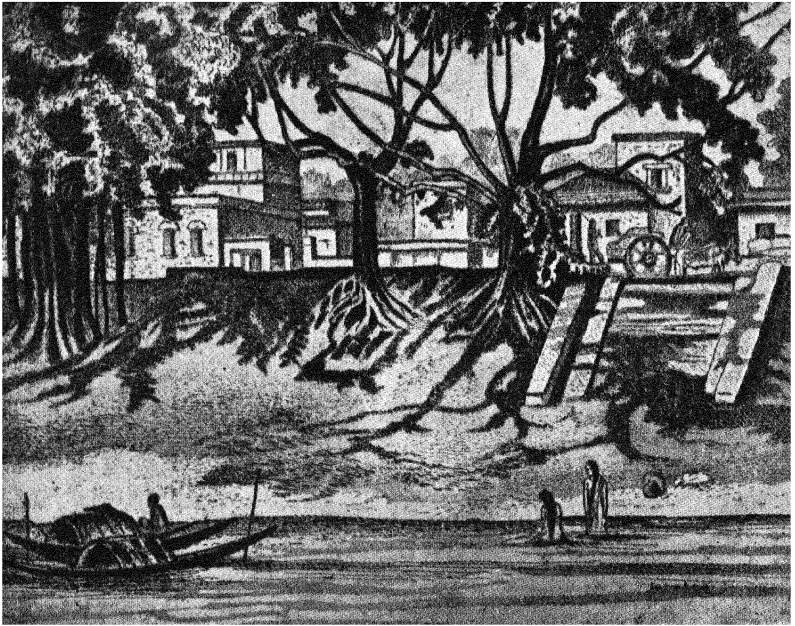
धीरे बहो गंगा

देवेन्द्र सत्यार्थी

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के
आमुख सहित

मुखचित्र : श्री रमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी को

आमुख

'धीरे बहो गंगा' की मानसिक पृष्ठभूमि की खोज में मेरे लिए कुछ निज-वार्ता में जाना आवश्यक है। मेरा जन्म एक गाँव में हुआ। कुछ जनपद की मातृभाषाके गहरे संस्कार बचपनमें मन पर पड़े, पर शीघ्रही आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के लिए गाँव की शरण से निकल मुझे शहर का ऋणी बनना पड़ा। यह शिक्षा-क्रम जब कुछ एक ठिकाने लगा और देश की प्राचीन भाषा और इतिहास की जानकारीके साथ-साथ जब मैं आत्म-विकास की एक नई पद्धति की खोज में था, उस समय सहसा मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे देश की वास्तविक आत्मा के साथ मेरा परिचय कुछ नहीं के बराबर ही हो पाया है। अपने इस अज्ञान पर लज्जा के साथ ही मनमें वेदना भी उत्पन्न हुई, किंतु यह अज्ञान ही मेरा सहायक बना जिसने ज्ञानाधिदेवता की प्रतिमा को फिर से सजीव बनाने में सहायता दी। जहाँ तक पुस्तकों से जाना जासका था, उस छोर से भारतवर्ष का वह स्वरूप जो सचमुच जानने योग्य था, बहुत दूर दिखाई दिया। इस अभाव को भरने के लिए मन अत्यन्त व्यग्र हो उठा, और अपने अंतर्मुखी ज्ञानतँतुओं की सिमटी हुई शक्ति से जिस वस्तु को मैंने प्राप्त किया वह था 'जनपदीय भारतवर्ष'। उसने न केवल मुझे अपने जन्म-सिद्ध संस्कारों के साथ फिर से जोड़ दिया, वरन् अपने उन पूर्वजों की परम्परा के साथ भी जो जनपदीय जीवन के सच्चे प्रतिनिधि रहे थे। देश के उन अनेक पथिकृत पूर्वजों के साथ भी जिन्होंने बहुत पहले इस देश में भूमि के साथ आत्मा को संबन्धित करके जीवन के लिए भू-प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, मेरा मन संयुक्त हो गया।

इस नये दृष्टिकोण और प्रयोग में जिसव्यक्ति की ओर मेरा मन सबसे अधिक खिंचा वे थे देवेन्द्र सत्यार्थी। मैं उन्हें पकड़ने के लिए मानसिक तैयारी में ही था कि वे स्वयम् अकस्मात मेरे क्षेत्र में प्रविष्ट हुए।

शहर के द्वारा गाँव को समझने का जो प्रयत्न है, देवेन्द्र सत्यार्थी उस के प्रतीक हैं। बेरोक-टोक बहनेवाले पवन की तरह वे पैशाची भाषा के भू-भाग काश्मीर से आंध्र देश व सिंहल तक, एवं आसाम से सिन्ध तक घूमे-फिरे हैं।

वे जनपदीय जगत् के सच्चे चक्रवर्ती हैं। उनके रथ का पहिया अपनी ऊंची ध्वजा से ग्रामवासिनी भारतमाता की वंदना करता हुआ सब जगह फिर आया है।

लगभग तेईस सौ वर्ष पहले प्रियदर्शी अशोक ने राष्ट्र के जीवन में एक क्रांतिकारी प्रयोग किया था और वह था जानपद-जन की पुनः प्रतिष्ठा, जानपद-जन के सांगोपांग दर्शन का एक बलवान प्रयत्न। आज तेईस शताब्दियों के भीतर से अशोक की वह सरस्वती हमें फिर सुनाई पड़ती है। हमारे सामाजिक और राजनैतिक चक्र के मध्य-बिन्दु पर जानपद-जन की एक बार फिर प्रतिष्ठा हुई है। जनपदों में रहनेवाले भारतीय जनों का गौरव-गान आज सर्व सम्मति से हमने अपने ही जीवनकी आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है। इस आत्म-निरीक्षण के मुहूर्त में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने सांस्कृतिक मर्म स्थानों को पुन: स्वस्थ बनाने के लिए लोक-जीवन और जनपदीय साहित्य के परिचय के अतिरिक्त और कोई रीति-नीति हमारे सामने नहीं है। हम खुले जी से लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति और लोक-जीवन को फिर से अपनाकर ही अपने साथ सच्चे बन सकते हैं। लोक के साथ सम्पर्क में आकर हमारे जीवन के रुके हुए सोते फूट बहने लगेंगे और रस-ग्रहण के टूटे हुए तन्तु फिर अपने तार से जुड़ सकेंगे।

भूमि के साथ सब प्रकार से अपना सम्बन्ध हरा करने का सूत्रपात ही राष्ट्रीय जीवन का नया विधान ज्ञात होता है। अनन्त भूतों की धात्री, अनन्त कर्मों की साक्षी, यह भूमि ही हमारे सब धारणात्मक धर्मों और कर्मों को चेतना प्रदान करती है। सच्चे अर्थों में यह धरित्री है। विगत शताब्दी में हमारे मन का ठाठ विदेशी शिक्षा और प्रभावों के कारण अपने पैरों की पृथ्वी से उखड़ गया। राष्ट्र के जीवन में आत्म-हनन के तुल्य यह भारी अभिशाप आया। उस के कुपरिणाम को हटाना हमारे आगे आनेवाले भविष्य का सबसे बड़ा कार्यक्रम ज्ञात होता है। हमें शनैः-शनैः अपने पात्र में फिर से अपनी संस्कृति का अमृत भरना होगा। इस स्थिति को पाने के लिए लोक-साहित्य और लोकगीतों का सहारा सबसे अधिक मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। पृथ्वी और अंतरिक्ष के बीच में जो विस्तृत आकाश फैला है उसको दो सहस्र वर्षों में हमने अपने गीतात्मक शब्दों से भर दिया है। कवि के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि भारतीय भुवन के आकाश में यदि गीतात्मक शब्द की ज्योति न भरी हो तो मनुष्यों के जीवन में चारों ओर अंधेरा छा जाता—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवन त्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासीत संसारं न दीप्यते ।।

इन असंख्य लोकगीतों की आत्मा अभिन्न है । भाषा का भेद होते हुए भी गीतों में व्याप्त भारतीय मानव का हृदय, उसके दुःख-सुख की अनुभूति, उसकी आशा और निराशा एक जैसी ही है। शब्दों की दृष्टि से स्थान-स्थान के गीत अलग-अलग होने पर सबमें समान अर्थ का धागा पिरोया हुआ है । अर्थ की एकता गीतमय भारत को विलक्षण एकता प्रदान करती है । एकता की यह परिपाटी प्रान्त-प्रान्त के गीतों में अनेक प्रकारसे प्रकट होती हुई दिखाई पड़ेगी। नीले आकाश के नीचे प्रकृति के बहुरंगी परिवर्तन, युद्ध और शान्तिमय जीवन के चित्र एवं विधाता की स्त्री-संज्ञक रहस्यमयी सृष्टि की मानवीय जीवन पर प्रसाद और विषादमयी छाया—ये इन गीतों के प्रधान विषय हैं जो शतकोटि कण्ठों से सहस्रों बार गाये जाने पर भी पुराने नहीं पड़ते, और जिनकी संतत् किलकारी वायु में भरे हुए चिरंतन स्वर की तरह सर्वत्र सुनाई पड़ती है । गीत मानों कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं । वे कण्ठ से गाने के लिए और हृदय से आनन्द लेने के लिए हैं। आकाश में भरा हुआ शब्द जब गीत के रूप में प्रकट होता है तब मानों मानव के चिरंजीवी भाव साकार हो उठते हैं । इन मनोभावों का अध्ययन किसी भी जन-समुदाय के अन्तःकरण तक पहुँचने के लिए सबसे सीधा मार्ग कहा जा सकता है ।

लोकगीतोंका साहित्य बहुत बड़ा है । पुर,जनपद और जंगल सब ही मानों जनता की गीतात्मक प्रवृत्ति से भरे हुए हैं । गीतों की दुनिया में कोल, भील, शबर, मुण्डा, उरांव, गोण्ड आदि बनों में रहनेवाली आदिम जातियों का भी उतना ही बड़ा भाग है जितना कि शहरों में और बस्तियों में रहने वाली अन्य जनता का। अपने अपने लय भी सबको समान रूप से प्रिय होती है । राष्ट्रीय दृष्टि से इन गीतों के संकलन की बड़ी आवश्यकता है ।

शीघ्र ही यह कार्य नियमित ढंग से किसी सुसंगठित संस्था को अपने हाथ में लेना चाहिए। गीतों की तान उनका प्राण कहा जा सकता है । कण्ठ से गाए जाने वाले गीत में जितना अधिक अर्थ प्रकट होता है लिखे हुए अक्षरों को पढ़ने से उतना नहीं। अतएव गीतों को गाने वालों के कण्ठ से ही पूरी ध्वनि और तान के साथ रिकार्डों में भर लेना चाहिए । इस प्रकार जो गीत रिकार्ड में चढ़ गया उसे मानों हमने अमर कर दिया। उसकी लय को हम जब चाहें सुन सकते हैं । इस प्रकार के चुने हुए दस सहस्र गीत भी यदि रिकार्डों में चढ़ाए जासकें तो उस संस्कृति के संरक्षण का एक बड़ा काम पूर्ण हो

सकता है। आशा है निकट भविष्य में लोक-संस्कृति की अधिष्टात्री कोई संस्था इस कार्य को अपने हाथ में लेगी। भारतीय संगीत के प्राचीन इतिहास और विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में और जातियों में गाए जाने वाले गीतों के स्वर-ताल का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

लोकगीतों का एक बहुत ही रोचक पक्ष उनकी भाषा का अध्ययन है। गीतों की कविता में बोलियों का सर्वोत्तम रूप पाया जाता है। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से अनेक गीत जनपदीय साहित्य के बहुत ही सुन्दर प्रतीक हैं। विभिन्न जनपदों के जीवन में पशु पक्षी, वनस्पति तथा नदी-वन-पर्वत का जो बहुमूल्य स्थान है लोकगीत की सरस भाषा में मानो उसका चित्र खींच दिया है। ऐसे अनेक लोकगीत देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'धीरे बहो गंगा' में प्रस्तुत किए हैं। लोककला के अनेक पारिभाषिक शब्द इनमें पग-पग पर मिलते हैं। कला के अलंकरण के सूचक अनेक शब्द लोकगीतों में अपने ठेठ अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जनपदों में ऊंची श्रेणी की कवियित्रियां रही होंगी। 'बहिन के गीत' शीर्षक अध्याय में पंजाब की ऐसी ही एक गितार नारी के गीतात्मक काव्य में विरहिणी की करुणा काग के द्वारा नैहर में संदेश भेजते हुए उसी प्रकार उमड़ पड़ी है जैसे किसी कालिदास के मेघदूत में यक्ष-यक्षिणी की मानसिक करुणा ये चिर-सुन्दर भाव पूर्णतम भाषा के आश्रय से प्रकट हुए हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी की शैली बहुत ही सुन्दर और भावपूर्ण है। लेख के चित्रपट पर तूलिका के परिमित संकेतों के द्वारा वे जनपदीय भारत की गर्वीली आत्मा को हमारे सामने प्रकट करने में सफल हुए हैं। उनके शब्दों में भारत का अनुभव, गीतों से भरे हुए प्रत्येक जनपद का अनुभव प्रतिबिम्बित हो उठता है।

भारत के अन्तर्प्रान्तीय लोकगीतों के क्षेत्रमें देवेन्द्र सत्यार्थी ने जो जय-पताका खड़ी की है उसकी वंदना करते हुए हमारा ध्यान गुजरात के साहित्य-कार स्वर्गीय झवेरचन्दके कार्यकी ओर भी जाता है जिन्होंने लोक-साहित्यके संग्रह के लिए धूनी रमाकर अपना सारा जीवन उसी कार्य में खपा दिया और जिन्होंने अपने आप को बीज की तरह गलाकर गुजरात के लोक-साहित्य और विशेषतः गीत साहित्य को सारी जनता के मानस पर प्रतिष्ठित कर दिया। जैसे देवेन्द्र सत्यार्थी ने ख्याति प्राप्त की है, गुजरात के समस्त महारथी साहित्यिकों का ध्यान मेघाणीजी के तपशील कार्य की ओर आकर्षित हुआ था। आज मेघाणीजी इस लोक में नहीं हैं किन्तु गुजरात का लोक-साहित्य उनके

कारण अमर हो गया है। देवेन्द्र सत्यार्थी का कार्य भी हिंदी-संसार में उचित सम्मान के योग्य है। एक दिन ऐसा आयगा जब उनका लगाया हुआ यह पौधा पुष्प के तौर फलित होकर हमारे साहित्य में नये मंगल का विधान करेगा। वे हमारे लिए जानपद-जन की प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाने में सहायक हुए हैं। यह उनका सदा के लिए हम सब पर बड़ा ऋण है। तीन लाख लोक-गीतों के संग्रह से उनकी झोली भरी है। उनके इस चक्र की नाभी में सभी प्रांतों की भाषाओं के अरे पिरोये हुए हैं। उनका यह कार्य एक महान् कार्य है, वेद की भाषा में कहें तो उसे 'माह्यय कर्म' अर्थात् महान प्रशंसनीय कर्म कह सकते हैं। निज संकल्प बल से यह साका करके देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतीय लोक संस्कृति को फिर से चिताने के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया है।

सेंट्रल एशियन एंटिक्विटीज़ म्यूज़ियम, दिल्ली।
१० फर्वरी, १६४८

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रस्तावना

आठवीं शती के चीनी कवि सु-हुन ने एक स्थान पर कहा है—'लम्बी रात को चीर कर तैरता हुआ आता है बीन का स्वर, वल्लरियों की नीली शिराओं को कँपा जाती है पछुवा हवा, श्यामल ओसों में छिप कर सो गये हैं अन्तिम जुगनूँ। आकाशगंगा को छूती चली जा रही है पहली हंस-पंक्ति, उषा के प्रकाश में सहसा घने होगये हैं लम्बे वृक्ष, एक अपूर्व निखार आ गया है शून्य की दूरी में, प्रकृति के साथ मानव के साहचर्य के चित्र भारतीय लोक-कला में भी प्रस्तुत किये गये हैं। जीवन के सत्यों के साथ प्रकृति के सौंदर्य-तत्वों के सम्मिश्रण की परम्परा लोक-प्रतिभा की अग्रगामी शक्तियों की प्रतीक रही है। ऐसे कुछ चित्र 'धीरे बहो गंगा' में भी मिलेंगे—'सांप अपनी केंचुल छोड़ता है, गंगा अपना किनारा छोड़ती है।' (पृष्ठ १८) 'पिता के रोने से गंगा में बाढ़ आ गई, माता के रोने से अंधेरा छा गया।' (पृष्ठ १०) 'नीरव चरणों के साथ दर्शन दीजियो रे भंवरे! तुम्हारा गान थमने न पाए, मेरी नींद टूटने न पाए, फूलों की नींद टूटने न पाए, डालियों की नींद टूटने न पाए।' (पृष्ठ २२) 'ताल वृक्ष पर सालिक पंछी अण्डे से रहा है, ओ भाई अण्डे से रहा है।' (पृष्ठ ३१) 'धरती हरी हो गई, प्रियतमा गोरी नज़र आती है।' (पृष्ठ १२३) 'दिन ऊँघता है, किरणें फूट रही हैं, गाय बन को जा रही है।' (पृष्ठ १५१)

सन् १९३६ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण देते हुए स्वर्गीय प्रेमचन्द ने घोषणा की थी—"ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौंदर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकारमें यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर

वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है; जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्यायवृत्ति तथा सौंदर्यवृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है.......हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हों, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।" इसी दृष्टिकोण से भारतीय लोकगीतों का अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि लोक-प्रतिभा ने कभी प्रतिगामी शक्तियों का साथ नहीं दिया।

प्रेरणा के मूल-स्रोत से भारतीय लोकगीत कभी नहीं कटे। दिशा-निर्देश और अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करते हुए जीवन की अग्रगामी शक्तियों ने सदैव लोक-प्रतिभा का साथ दिया है। युग-युग को लांघते हुए अपनी ध्रुवयात्रा में सामाजिक शक्तियों की विकास-गाथा को विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में प्रस्तुत करने का दायित्व निभाया है।

उराँव लोकगीतोंके अन्वेषक श्री डब्लयू.जी. आर्चरने वैरियर ऐलविन द्वारा संग्रहीत और सम्पादित बैगा लोक-कविताकी समालोचना करते हुए लिखा है—"वैज्ञानिक सामग्रीके रूप में तो इसका महत्व है ही, पर इसका अति आवश्यक कार्य है संस्कृतियों को उत्तेजित करना। हम मानव का अध्ययन केवल इसी लिए नहीं करते कि उसे खण्ड-खण्ड कर डालें। हम इसलिए जांच करते हैं कि हम कुछ सीखें। यूरोप में बीसवीं शताब्दी की कला के पीछे नीग्रो मूर्तिकला नज़र आती है। बैगा लोककविताओंका महत्व यह है कि वे इंगलैंड और भारत में समकालीन कविता के लिए एक नया श्रीगणेश सुझाती हैं।' ('मैन इन इण्डिया,' मार्च १९४३, पृष्ठ ७०)। मुझे आर्चर के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा तथ्य नजर आता है। वस्तुतः भारतीय लोक-गीतों का अध्ययन हमारे समकालीन साहित्य के सृजन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हो सकता है।

मध्य-प्रान्त की बनवासिनी गोंड कन्या जब सड़क पर गिट्टी तोड़ते समय अपने परम्परागत स्वरोंमें आज का दुखड़ा पिरोती है तो उसकी आवाज़ सुनी-अन-सुनी नहीं की जा सकती। गिट्टी टूटने के साथ-साथ गोंड कन्या के

माथे पर पसीने की बूँदें उठती हैं और गिरती हैं। जैसे समूचे देश के लोगों को पुतलियों की भांति हिलाने-डुलाने वाली डोर उसके हाथ में आ गई हो, जैसे देश के साहित्यकारों को भी वह पुतलियों की भांति नचा रही हो। सचमुच इस गोंड कन्या की अनुभूतिमें एक नये ही काव्य की रेखाएं उभरती हैं—

—'अङ्ग पर अंगिया नहीं,
भूखी प्यासी मैं गिट्टी तोड़ती हूँ।
इस भरे घाम में
पत्थर की किरच
छुन की आवाज मेरे शरीर से टकराती है।
मेरा जीना हराम है,
अंग पर पसीना छुक-छुक करता है
नयनों में आंसुओं का पर नाला बहता है,
ओ माँ, मेरे शरीर पर गिट्टी खप से चुभ जाती है'

मुझ पर गांधीजी की विशेष कृपा हुई जो उन्होंने श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी जैसे कर्मठ साहित्यकार से मेरा परिचय कराया। मैं महीनों उनका अतिथि रहा। न जाने वह कौनसा क्षण था जब उन्होंने मुझे सदैव के लिए अपने परिवार का सदस्य मान लिया। वस्तुतः यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य था। उस शुभ क्षण की स्मृति में 'धीरे बहो गंगा' मुन्शी जी को समर्पित करता हूँ।

'धीरे बहो गंगा' प्रस्तुत करते हुए मेरी आँखों में अनगिनत नर-नारियों के चेहरे घूम रहे हैं, जिन्हें मैंने अत्यन्त समीप से देखा, जिनकी मौलिक परम्परा ही सबसे बड़ी सांस्कृतिक थाती है। मैं उन अनेक मित्रों का कृतज्ञ हूं जिनके सहयोग द्वारा मैं सदैव अपनी लोकगीत-यात्रा में अग्रसर होता रहा हूँ।

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली। देवेन्द्र सत्यार्थी
२८ सितम्बर, १६४८

सूची

एक

धीरे बहो, गंगा !

: १ :

गंगा को क्रोध भी आता है, जब वह असंख्य ग्रामों को निगल जाती है, जब कोसों तक खेत जलमग्न हो जाते हैं, पर गंगा का क्रोध बहुत शीघ्र शांत हो जाता है। उस समय गंगा फिर से खुश नज़र आती है। लोक-माता को सचमुच इसी तरह खुश रहना चाहिए। आज भी देश की अधिकांश आबादी गंगा के तट पर है। क्रोध की बात भुला कर गंगा प्रायः खुश रहना अधिक पसन्द करती है और उसका आशीर्वाद राष्ट्र को सदैव प्राप्त रहता है।

आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य गंगा के तट पर स्थापित हुए थे; जैसे गंगा की छोटी-बड़ी लहरें उन साम्राज्यों की गाथा आज भी सुना सकती हों। गंगा को सदैव इस बात पर गर्व रहेगा कि उसी ने कुरुपांचाल प्रदेश का अंग-वंग आदि प्रदेशों के साथ गठबंधन कराया। बाल्मीकि और व्यास ने गंगा को प्रणाम किया होगा; बुद्ध और महावीर ने उसका आभार माना होगा; अशोक, समुद्रगुप्त और हर्ष ने उसमें स्नान किया होगा; कालिदास ने इसके तट पर खड़े होकर देखा होगा कि किस प्रकार लोकमाता बाँह उलार कर आगंतुक का स्वागत करती है। तुलसी और कबीर ने बार-बार उसके दर्शन किये होंगे।

जय गंगा मैया ! यात्रियों का जयघोष गंगा की शत-सहस्रो गौरव-गाथा का प्रतीक है। गंगा का जल लेकर गंगा का अभिषेक करने वालों की कभी कमी नहीं रही। चतुर्दिक शान्ति का स्निग्ध वातावरण, यह गंगा तट की विशेषता है। जैसे हर कोई यह पूछना चाहता हो—गंगोत्री के संस्मरण तो तुम्हे याद होंगे, गङ्गा मैया !

दूर तक फैला हुआ क्षितिज, हरे-भरे खेत, एक साम्राज्ञी की तरह अपने पथ पर अग्रसर होती गंगा, यह दृश्य गंगा की मातृ-वत्सलता का प्रतीक है।

मैं काका कालेलकर से सहमत हूं—'गंगा का दर्शन कुछ एक ही तरह का नहीं है। गंगोत्री के पास बर्फ़ से ढके हुए प्रदेशों में इसका क्रीड़ासक्त कन्या रूप, उत्तर काशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यसम प्रदेश में मुग्धारूप, देव-प्रयाग के पहाड़ी और संकरे प्रदेश में चमकीली अलकनन्दा के साथ इसकी अठ-

खेलियां,लक्ष्मण झूले की विकराल दंष्ट्रा में से छूटनेके बाद हरिद्वारके समीप कई धारांओं में विभक्त होकर इसका स्वच्छन्द विहार,कानपुरसे सटकर जाता हुआ इस का इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह,तीर्थराज प्रयाग के विशाल पाट के ऊपर इसका यमुना के साथ लोक-पावन त्रिवेणी-संगम—हरेक की शोभा कुछ निराली ही है। एक दृश्य को देखकर दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती। हरेक का सौंदर्य जुदा, हरेक का भाव जुदा, हरेक का वातावरण जुदा और हरेक का महात्म्य जुदा है।'

गंगा ते जमना सकीयाँ भैणां
दोवें रल न्हावन चल्लीयाँ राम !

—'गंगा और यमुना सहोदरा बहिनें हैं,
दोनों मिलकर स्नान करने चली हैं, हे राम !'

पंजाबी लोकगीत का यह बोल मेरे हृदय में प्रतिध्वनित हो उठता है। गंगा और यमुना के उद्गम स्थानों की यात्रा करने के पश्चात् किसी गृहदेवी के कंठ से ये शब्द निकले होंगे, ऐसा लगता है। गंगा और यमुना को सहोदरा बहिनोंके रूपमें देखनेकी बात बड़ी हृदयस्पर्शी है। भव्यता का भण्डार हिमालय दोनों बहिनों का पीहर है। काका कालेलकर ने भी उन्हें बहिनों के रूप में अपनाया है—'दोनों बहिनों में गंगा से यमुना बड़ी है, प्रौढ़ है, सयानी और गम्भीर है। वह कृष्ण-भगिनी द्रौपदी जैसी कृष्णवर्णा और वैसी ही मानिनी भी है। गंगा तो मानो बेचारी मुग्धा शकुन्तला ही ठहरी; तो भी देवाधिदेव ने उसे अङ्गीकार किया और इसीलिए यमुना ने अपना बड़प्पन छोड़कर गंगा को ही अपनी सरपरस्ती सौंप दी। ये दोनों बहिनें आपस में मिलने के लिए बड़ी उतावली दीख पड़ती हैं। हिमालय में एक जगह पर तो दोनों बहुत ही नज़दीक आ जाती हैं;पर ईर्ष्यालु दंडाल पहाड़ बीचमें विघ्न सन्तोषीकी तरह आड़े आकर उनका सम्मिलन नहीं होने देता।'

गढ़वाली लोकवार्त्ता में एक ऋषि की गाथा आज भी सुरक्षित है। यमुना तीर पर इस ऋषिकी कुटिया थी,पर उन्होंने यह शपथ ले रखी थी कि हर रोज गंगा में स्नान किया करेंगे। वर्षों तक उनका यही कार्यक्रम रहा। रोज़ गंगा पर नहाने जाते और यमुना के तीर पर अपनी कुटिया में लौट आते। फिर जब वृद्धावस्था के कारण गंगास्नान कठिन होगया तो गंगा मैया को ऋषि पर दया आगई और अपने प्रतिनिधि के रूप एक झरना यमुना तीर पर ऋषि की कुटिया के समीप ही भेज दिया। कई वर्षों तक ऋषि इस झरने में स्नान करते

रहे। आज भी वह झरना ऋषि की पुण्यस्मृति में कलकल निनाद करता बह रहा है।

हिमालय के यात्री को देहरादून के समीप यह ख़्याल अवश्य आता है कि गंगा और यमुना बहिनों की तरह गले मिलेंगी और फिर एक लम्बी यात्रा के लिए अग्रसर होंगी। पर उनका सम्मिलन नहीं हो पाता। गंगा उत्तर काशी की ओर लपकती है; टेहरी, श्रीनगर, हरिद्वार, कन्नौज, ब्रह्मावर्त, कानपुर आदि प्राचीन स्थानों की प्यास बुझाने की बात उसे किसी के भुलाये नहीं भूलती। उधर यमुना कुरुक्षेत्र और पानीपत के मैदान के रास्ते भारत की राजधानी के समीप आ पहुंचती है और फिर मथुरा, वृन्दावन और आगरे की शोभा बढ़ाती हुई गंगा से मिलने के लिए आगे बढ़ती है। सच है, कानपुर और कालपी दूर नहीं। यहां गंगा का समाचार पाकर यमुना एक दौड़ लगाती है—तीर्थराज प्रयाग में पहुँच कर गंगा के गले से लिपटने के लिए।

गंगा की सहायक नदियों में यमुना की ब्रजकेलियां यात्री का ध्यान आकर्षित करती हैं तो सरयू की अठखेलियाँ भी उसे कुछ कम नहीं भातीं। सरस्वती की अगोचरता सुविख्यात है। गदकारी सोनभद्र का सुनहरा चीर फहराने लगता है तो दृश्य और भी सुन्दर नज़र आता है। राम गंगा तो वस्तुतः एक कन्या के समान है—गात की मझोली, भाव की गम्भीर—बरेली, मुरादाबाद, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद और हरदोई के जिलों में राम गंगा का चंचल सौंदर्य खिल उठता है। फुदकती, मचलती, वह मुड़-मुड़कर देखती है, लौट-लौटकर, पीहर की याद में खोई-सी, अनेक ग्रामों को प्रायद्वीप बनाती हुई। इस प्रकार वह गंगा से मिलने के लिए आगे बढ़ती है।

कहते हैं गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गंगा एक रूप है। दोहरे पाट वाली खेलती-कूदती यमुना को प्रयाग के स्थान पर गंगा में मिलते देखकर कालिदास की लेखनी ने एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया था। चौदह वर्ष के वियोग के पश्चात् पुष्पक-विमान में बैठे राम नीचे गंगा-यमुना के संगम का दृश्य देखकर सीता से कहते हैं—

> क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
> अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
> क्वचित् खगानां प्रियमानसानां कादंबसंसर्गवतीव पंक्तिः।
> अन्यत्र कालागरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
> क्वचित्प्रभा चांद्रमसी तमोभिश्छाया विलीनैः शबलीकृतेव।

अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्यांगि ! विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः ॥

—'हे निर्दोष अङ्ग वाली सीते ! देखो, इस गंगा के प्रवाह में यमुना की तरंगें धंस कर प्रवाह को खंडित कर रही हैं। यह कैसा अनूठा दृश्य है ! कहीं ऐसा दीखता है, मानों मोतियों की माला में पिरोये हुए इन्द्रनीलमणि मोती की आभा को धुंधला कर रहे हों। कहीं ऐसा लगता है, मानो श्वेत कमल के हार में नीले कमल गूँथ दिये हों। कहीं मानो मानसरोवर को जाते हुए श्वेत हंसों के साथ कृष्ण वर्ण कादंब पक्षी उड़ रहे हों। कहीं, मानो श्वेत चन्दन से लीपी हुई भूमि पर कालागरू की पत्र-रचना की गई हो। कहीं, मानों चन्द्र की प्रभा के साथ छाया में लीन अन्धकार की क्रीड़ा हो रही हो। कहीं, मानों शरद् ऋतु के मेघ के पीछे से छिद्र में से आकाश की नीलिमा ज़रा-ज़रा दिख रही हो। और कहीं ऐसा दीखता है, मानों महादेव जी के भस्म-भूषित शरीर पर काले-काले साँपों के आभूषण धारण करा दिये हों।'

अनेक नदियां हैं, अनेक संगम। पर प्रयागराज के त्रिवेणी संगम से क्या मुकाबला ? गंगा की अद्वितीय सरलता और निष्कपटता देखकर हम उसे एक तपस्वी कन्या के रूप में अपनाते हैं। यमुना मानिनी है, जैसे वह कोई राज-कन्या हो। सब संगम देख आइए। प्रयागराजकी शोभा अद्वितीय है। यह शुक्ल-कृष्ण प्रवाह और कहाँ मिलेगा ?

गंगा के अनेक रेखाचित्र अंकित किये जा सकते हैं। काका कालेलकर का प्रस्तुत किया हुआ चित्र सजीव और अनूठा है—

'प्रयाग के बाद गंगा एक कुलवधू की तरह गम्भीर और सौभाग्यवती दीख पड़ती है। इसके बाद गंगा में बड़ी-बड़ी नदियां मिलती जाती हैं। यमुना का जल मथुरा-वृन्दावन से श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पण करता है। अयोध्या में होकर आने वाली सरयू आदर्श नरपति रामचन्द्र के प्रताप, किन्तु करुण जीवन की स्मृतियां लाती है। दक्षिण की ओर से आने वाली चंबल नदी राजा रतिदेव के यज्ञ-योग की बातें सुनाती है, जब कि महान कोलाहल करता हुआ सोनभद्र नद गज और ग्राह के भीषण युद्ध की झांकी कराता है। इस भांति हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र (पटना) के पास मगध-साम्राज्य

के समान विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य कर-भार लिये हुए हिचकिचाई नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकल कर आगे बढ़ती हुई गंगा मानो विचार में पड़ जाती है कि अब कहाँ जाना चाहिए। जब इतनी प्रचण्ड जलराशि अपने अमोघ वेग से पूर्व की ओर बह रही हो, तब उसे दक्षिण की ओर मोड़ देना क्या कोई सरल बात है ? फिर भी वह उस ओर मुड़ जाती है। जिस प्रकार दो सम्राट अथवा दो जगद्गुरु एकाएक एक दूसरे से नहीं मिलते, उसी तरह गंगा और ब्रह्मपुत्र का हाल है। ब्रह्मपुत्र हिमालय के उस ओर का जल समेट कर आसाममें से होती हुई पश्चिम की ओर जाती है और गंगा इस ओर से पूर्व की ओर जाती है। दोनों का मिलाप आमने-सामने कैसे हो सकता है ? कौन किसके सम्मुख पहले झुके ? कौन किसे पहले रास्ता दे ? अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि दोनों को दाक्षिण्य—एक दूसरे को प्रसन्न करने की उदारता का विचार करके सरित्पति—सागर—के दर्शन के लिए जाना चाहिए और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते, जहाँ भी सम्भव हो वहाँ, मार्ग में एक-दूसरे से मिल लेना चाहिए।

'इस प्रकार गोलन्दो के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्र का विशाल जल आकर मिलता है तब यह शंका होने लगती है कि क्या समुद्र इससे कोई भिन्न ही तरह का होता होगा ? जिस प्रकार विजय पाने के बाद खड़ी हुई सेना अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर जहां-तहाँ घूमते-फिरते हैं, उस तरह संगम के बाद इन नदियों की भी वही दशा होती है। ये अनेक मुखों द्वारा सागर में मिल जाती हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र, एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही पद्मा आगे जाकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है।

'यह अनेक मुखी गंगा कहां जा रही है ? सुन्दरवन में बेत के झुण्ड उगाने के लिए या सागरपुत्रों की वासना को तृप्त कर, उनका उद्धार करने के लिए ? आज जाकर आप देखें तो उस प्राचीन काल की कोई भी बात वहाँ रही नहीं। जहाँ देखो वहीं सन की बोरियाँ बनाने वाली मिलें, और इसी तरह के दूसरे बदसूरत कल-कारखाने खड़े हुए हैं। जहाँ से हिन्दुस्तानी कारी-गर की असंख्य वस्तुएँ हिन्दुस्तान के जहाजों में लद-लद कर लंका और जावाद्वीप तक जाती थीं, वहीं से अब विलायती और जापानी आगबोटें विदेशी कारखानों में बने हुए कूड़े-कचरे जैसे माल से हिन्दुस्तान के बाजारों को पाट देने के लिए आती हुई दिखाई देती हैं। गंगा मैया पहले ही की

तरह हमें समृद्धि प्रदान करती है ; पर हमारे निर्बल हाथ उस समृद्धि को सम्भाल नहीं सकते हैं ! गंगा मैया, यह दुःखद दृश्य देखना तेरे भाग्य में कब तक बदा है ?"

: २ :

एक गढ़वाली लोकगीत की पहली कड़ी बार-बार मेरी कल्पना को छू-छू जाती है—'गंगा जी को औंत !' (गंगा जी की भंवर) जाने वह भंवर कहां पड़ता है । एक लहर दूसरी लहर के गले मिलती है । जाने किसकी बांसुरी इस लहर को अपने स्वरों पर उठा लेती है । गंगा का नाम बड़ा है । गंगा की लहरें भी कोई साधारण लहरें नहीं । बाँसुरी के स्वरों पर ये लहरें गर्व से सिर उठाती हैं । निर्जन वन-प्रांतर को चीरते, इधर-उधर टकराते बांसुरी के स्वर गंगा की लहरों का अभिनन्दन करते हैं । बांसुरी बजाने वालों में वे भाग्यशाली हैं जो किसी-न-किसी रूप में गंगा का गान करते हैं । मुझे भय है कि कहीं कोई यह न समझ ले कि लोकगीतों में कुछ ऐसी रचनाएँ होती ही नहीं जिन्हें काम-चलाऊ तो कह सकते हैं पर सफल नहीं कह सकते, क्योंकि वे अपने विषय को पकड़ नहीं पातीं । ऐसे असफल गीतों की गिनती कुछ कम नहीं । पर मेरा संकेत तो उन्हीं गीतों की ओर है जिनमें लोक-मानस ने गंगा को पूरी तरह देखते हुए गहरे-हलके रंगों के मेल से गंगा का चित्र प्रस्तुत किया है । लोक-मानस ने भी प्रत्येक युग में प्रयोग किये हैं । शब्द, स्वर, लय, ताल—प्रत्येक सूत्र को हिलाकर झंझोड़ कर व्यापक सत्य की अभिव्यक्ति, यही इन प्रयोगों का ध्येय रहा है ।

गंगा बड़े वेग से आगे बढ़कर—पहाड़ों को पीछे छोड़कर, समतल धरती पर उतरती है । वहीं वस्तुतः उसकी विशालता का आरम्भ होता है । जैसे वह एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में अपनी पुण्य गति से धरती का माप लेती हुई सागर तक पहुँचने के लिए उत्सुक हो उठी हो । कोई उससे आशीर्वाद माँगे तो वह संकोच नहीं करेगी, पर वह रुक नहीं सकती—उसे आगे बढ़ना है अवश्य । युक्त-प्रान्त के एक सोहर गीत की पृष्ठ भूमि में यही भावना काम करती है कि गंगा खुश हो जाय तो नारी की कोख झट हरी हो सकती है—

गंगा जमुनवाँ के बिचवाँ तेवइया एक तपु करइ हो
गंगा, अपनी लहर हमैं देतिउ मैं मंझाधार डूबित हो

की तोहि सास-ससुर दुख कि नैहर दूरि बसै
तेवई, की तोरे हरि परदेस कवन दुख डूबउ हो
गंगा, न मोरे सास-ससुर दुख नाहीं नैहर दूर बसै
गंगा, न मोरे हरि परदेस कोखि दुख डूबब हो
जाहु, तेवइया, घर अपने हम न लहर देवइ हो
तेवई, आजु के नवएँ महिनवाँ होरिल तोरे होइहैं हो
गंगा, गहबरि पिअरी चढ़उबै होरिल जब होइहैं हो
गंगा, देहु भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो

—'गंगा यमुना के बीच एक स्त्री तप कर रही है,
'हे गंगा,अपनी एक लहर तुम मुझे दे देतीं तो मैं मंझधारमें डूब जाती।'
'क्यों तुझे सास-ससुर का दुख है? क्या तेरा नैहर दूर है?
हे स्त्री,क्या तेरा पति परदेश में है? किस दुखसे तुम डूबना चाहती हो?'
'हे गंगा, न मुझे सास-ससुर का दुःख है, न नैहर दूर है;
हे गंगा,न मेरा पति परदेश में है,मैं कोखके दुःख से डूबना चाहती हूँ।'
'हे स्त्री, तुम अपने घर जाओ, मैं तुम्हें लहर न दूँगी।
हे स्त्री, आज से नवें महीने तेरे पुत्र होगा।
हे गंगा,मैं तुम्हें चटक रंगकी पीली साड़ी चढ़ाऊँगी,जब मेरे पुत्र होगा।
हे गंगा, मुझे भगीरथ जैसा पुत्र दो, संसार जिसका यश गान करे।'

अयोध्या के प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा दलीप के पुत्र राजा भगीरथ घोर तपस्या करके गंगा को पृथ्वी पर लाये थे—यह पुरातन परम्परा है। इसीलिए गंगा का एक नाम भगीरथी भी है। इस लोकगीत में ग्राम की स्त्री और गङ्गा का वार्तालाप बहुत महत्त्वपूर्ण है। गंगा आशीर्वाद देती है, और ग्राम की स्त्री का खुश होकर गङ्गा को चटक रंग की पीली साड़ी चढ़ाने की बात अत्यन्त स्वाभाविक है। और उससे भी अधिक स्वाभाविक है भगीरथ जैसा पुत्र प्राप्त करने की इच्छा जिसका यश दूर-दूर तक फैलता चला जाय।

युक्त प्रान्त के ग्रामों में मेलों की प्रथा बहुत पुरानी है। स्त्रियाँ झुंड बाँधकर मेले में सम्मिलित होने के लिए चल पड़ती हैं। चलते-चलते गाये जाने वाले गीत अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। गंगा के किनारे के ग्रामों में मेलों की शोभा विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अतः मेले के गीतों में गंगा का दर्शन स्वाभाविक वस्तु है। मेले के एक गीत में भगीरथ और गंगा का चित्र प्रस्तुत किया गया है—.

मातु गंगा लागि भगीरथ बेहाल
कोई नीपे अगुआ त कोई पिछुआर
भगीरथ नीपे छथ शिव के दुआर
कोई तोड़े फूल कोई बेलपत्र
भगीरथ तोड़ैं छथ शिव का दुआर
कोई मांगे अनधन कोई धेनु गाय
भगीरथ माँगैं छथि गगा जी के धार
आगु आगु भगीरथ भागल जाथि
पिछू पिछू सुरसरि पसरलि जाथि

—'गङ्गा मैया के लिए भगीरथ विकल है।
कोई घर के आगे का भाग लीप रहा है, कोई पिछवाड़ा लीप रहा है।
भगीरथ शिव का द्वार लीप रहा है।
कोई फूल तोड़ रहा है, कोई बेलपत्र तोड़ रहा है,
भगीरथ शिव का द्वार तोड़ रहा है।
कोई अन्न-धन माँग रहा है, कोई कामधेनु माँग रहा है,
भगीरथ गङ्गा जी की धारा माँग रहा है।
आगे-आगे भगीरथ भागा जा रहा है,
पीछे-पीछे सुरसरि गङ्गा फैलती जा रही है।'

युक्तप्रान्त के अनेक गीतों में जहाँ-तहाँ लोक-मानस ने गङ्गा की चर्चा की है। एक स्थान पर कोई अपनी पत्नी से शिकायत कर रहा है कि उसकी गङ्गा यमुना जैसी माता से उसने अभिमान भरे बोल क्यों कहे (ए रानी, गङ्गा जमुन मोरी माता गरब बोली बोलेहू)। एक और स्थान पर सीता के मुख से यह कहलवाया गया है—मैं गङ्गाजल माँगती हूँ, और हे ननद, सामने की कोठरी लिपवा दो, मैं रावण का चित्र बनाऊँगी (मागौं न गाँग गंगुलिया गङ्गा जल पानी, ननदी समुहे की ओबरी लिपावउ मैं रवना उरेहौं)। जनेऊ का एक गीत यों आरम्भ होता है—गङ्गा और यमुना के बीच में चन्दन का वृक्ष है, उसके नीचे अमुक सज्जन के फूफा खड़े जनेऊ कात रहे हैं (गङ्गा जमुन बिच आँतर चन्दन एक रुखवा है हो, तेहि तर ठाढ़े फूफा उन के कातें जनेऊवा हो)। एक और स्थान पर यज्ञोपवीत संस्कार का दृश्य यों चित्रित किया गया है—गङ्गा किनारे ब्रह्मचारी घूम रहा है कि कोई उसे पार उतार

दे ('गंगा किनारे बरुआ फिरैं केऊ पार उतारइ हो)। वह चाहता है कि कोई उसके लिए नाव भेज दे। उत्तर में पिता कहता है—न मेरे यहाँ नाव है, न केवट, जिसे यज्ञोपवीत की साध हो तैर कर आ जाय। कदाचित् उन दिनों यज्ञोपवीत संस्कार के समय ब्रह्मचारी के लिए तैरने का अभ्यास आवश्यक समझा जाता था।

भोजपुरी लोकगीतों में भी गङ्गा की उपस्थिति आवश्यक समझी गई है। एक गीत में शिव बारह वर्षों के पश्चात् लौटते हैं और गौरी के सत की परीक्षा लेते हैं. पहली परीक्षा में जब गौरी सूर्य के सम्मुख माथा टेकती है तो सूर्य अलोप हो जाता है। शिव कहते हैं—मैं यह तुम्हारी सूर्य-परीक्षा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं, तुम तुलसी परीक्षा दो। गौरी तुलसी पर हाथ रखती है तो तुलसी के पत्ते झड़ जाते हैं। इस पर शिव कहते हैं—हे गौरी, मैं तुलसी-परीक्षा स्वीकार नहीं करता, तुम गङ्गा-परीक्षा दो (तुलसी बीचरवा गाउरा हम नाहीं मानवी, गङ्गा बीचरवा मोही देहु हो) गीत की अगली पंक्ति में गङ्गा-परीक्षा का दृश्य अंकित किया गया है—जब गौरी ने गङ्गा पर हाथ रखा, गङ्गा रेत में समा गई (जब हो गउरा देई गङ्गा हाथ दीहलीनी गङ्गा परीय गैले रेत हो)। एक भोजपुरी झूमर यों आरम्भ होता है—'लहर मारे हो लहर मारे, जैसे गङ्गा में यमुना लहर मारे !' एक सोहर गीत की आरम्भिक पंक्तियों में एक दूसरा ही चित्र प्रस्तुत किया गया है—

तर बहे गंगा से जमुना उपर मधु पीपरि हो
की ए जीव ताहवाँ बसेले राजा ठाकुर पुतरी उरेहेलें हो

—'नीचे गङ्गा बहती है, ऊपर यमुना, वहाँ मधुर पीपल का एक वृक्ष है, वहीं मेरे राजा ठाकुर रहते हैं और पुतली अंकित किया करते हैं।'

एक भोजपुरी विवाह-गान का आरम्भ यों होता है—

हहर झहर रे गंगा यमुना रे पनिया
आरे चलन चलन करे दुल्हा चढ़ि लिलि घोड़िया रे

—'गङ्गा यमुना का पानी ज़ोरों से लहरा रहा है
लिलि घोड़ी पर चढ़कर दूलहा उस पार जाने की सोच रहा है।'

फिर एक स्थान पर दूल्हे को देखिए—

पीपर पात पुलइयनि डोले नदियन बहेल सेवार ए
गंगा आरा रे चढ़ि बोलेला दुलहवा लेला रमइया
जी के नांव ए !

—'पीपल के पत्ते शाखाओं पर डोल रहे हैं और नदी में सेवार भरा हुआ है,
गंगा के ऊँचे किनारे पर चढ़ कर दूल्हे ने ससुर का नाम लेकर पुकारा।'

फिर कन्या-विदा का मार्मिक दृश्य यों अंकित किया गया है—

बाबा के रोवले गंगा बढ़ी अइली
आमा के रोवले अन्हार ए आ रे
भइया के रोवे चरन धोती भीजे
भउजी नयनवा न लोर

—'पिता के रोने से गंगा में बाढ़ आ गई,
माता के रोने से अंधेरा छा गया,
भाई के रोने से उसके चरणों की धोती भीग गई
भावज के नयनों में अश्रु नहीं हैं।'

जाँत का एक भोजपुरी गीत यों आरम्भ होता है—

ए पार गंगा ए हरि जी, ओह पार जमुना
ताहि बिच लवल ए हरि जी तुलसी का गछिया

—'इस पार गंगा है, ओ हरि जी, उस पार यमुना,
ओ हरि जी, इनके बीच में तुलसी का पौधा लगाया है।'

एक भोजपुरी झूमर की आरम्भिक पंक्तियां भी लीजिए—

साँप छोड़ेले केचुलि गंगा छोड़ेलि अरारि
तू हूँ सैयाँ तेजल निज ग्रिह धनि अरारि

—'साँप अपनी केंचुल छोड़ता है, गंगा अपना किनारा छोड़ती है,
पतिदेव, तुम भी तो अपनी प्रिय पत्नी और घर को छोड़ देते हो!'

कलियुग का चित्र प्रस्तुत करते हुए एक भोजपुरी बिरहा का अहीर कवि कह उठता है—

सुअरिया गंगा जुठारलि, ए रामा
भगत भइले चमार
राम जी का हथवा का तुलसी के मलवा
कलऊ जपेला कलवार

—'गंगा के जल को सुअरी जूठा कर देती है, हे राम !
चमार भक्त बन गये,
राम जी के हाथ की तुलसी माला थामकर
कलयुग में कलवार जप कर रहा है !'

एक दूसरे बिरहा में गंगा का उल्लेख करते हुए किसी रमते योगी की प्रशंसा की गई है—

गंगा जी हँवीं मर-खौकी, ए रामा
काँचे पकले मर खाई
गंगा जी के हवि ना निरमल जलवा
राति दिनवा बहि जाई

—'गंगा जी मृत शरीर को खाती है, हे राम !
वह कच्चे मांस को खाती है।
फिर भी गंगा जी का जल निर्मल रहता है
वह रात दिन बहा करता है !'

मैथिली लोकगीत भी गंगा से वंचित नहीं रहे। एक विवाह-गान यों आरम्भ होता है—

गंगा उमड़ि गेल यमुना उमड़ि गेल
उमड़त घोंघा सेमार हे
एक नहीं उमड़ल बाबा कोन बाबा
आयल धर्म का बेर हे

—'गंगा उमड़ आई, यमुना उमड़ आई,
घोंघे और सेवार भी उमड़ आये,
एक अमुक कन्या का पिता ही नहीं उमड़ा,
धर्म का मुहूर्त्त आ गया !'

एक मैथिली झूमर में गंगा-स्नान का दृश्य देखिए—

चलु गोरिया चलु गोरिया गंगा असननवा हे
बाट के बटखरचा लिहो ठेकुआ पकवनमा हे
आरो लिहो आहे गोरिया सतुआ पिसनमा हे
बरका भइया तानि दिहलन अपनी चदरिया हे
चादरि के खूँट पकरी गेलि असननवा हे

कोई सखी पेन्हय रामा चीर अभरनमा हे
कोई सखी साटे रामा टिकुली सेनुरवा हे
दलसिंहसराय मे जाक सतुआ पिसनमा हे
गंगा किनार जाक कएलिअइ असननवा हे
गंगा मइया दिहलन रामा अनलओ बलकवा हे
हुनको चढ़ए बइन रामा फुलवा के माला हे
चलु गोरिया चलु गोरिया गंगा असननवा हे

—'चलो गोरी, चलो गोरी, गंगा-स्नान को !
बाट-खर्च के लिए ले लो ठेकुवे और पकवान !
और ले लो गोरी, सत्तू हे !
बड़े भाई ने तान दी चादर,
चादर के खूँट पकड़ कर मैं स्नान को गई ।
कोई सखी पहनती है, ओ राम, चीर हे !
कोई सखी सजाती है, ओ राम, टिकुली और सिंदूर !
दलसिंहसराय पहुँच कर खाऊंगी सत्तू,
गंगा किनारे जाकर करूंगी स्नान ।
गंगा मैया ने दिया, ओ राम, एक बालक हे !
गंगा को चढ़ाऊंगी, ओ राम, फूलों की माली,
चलो गोरी, चलो गोरी, गंगा-स्नान को !'

: ३ :

गंगा-पूजा और गंगा-स्नान के गीत प्रायः सम्मिलित स्वरों में गाये जाते हैं। जैसे गंगा की लहरें परस्पर मिल कर वेगवती जलधारा का दृश्य प्रस्तुत करती हैं, प्रत्येक स्त्री अपने स्वर ताल से गीत की सामूहिक शक्ति में वृद्धि करती है। कई बार ऐसा भी होता है कि गीत के शब्द कुछ-कुछ बदल दिये जायं। यह उस समय होता है जब गंगा की लहरें नई प्रेरणा देती हैं, जब गंगा बांह उलार कर हर किसी का स्वागत करती नज़र आती है। हो सकता है कि कोई मनचली उस समय वह गीत छेड़ दे जो युक्त प्रान्त का अत्यन्त लोकप्रिय गीत है—'धीरे बहो नदिया तैं धीरे बहो !' वस्तुतः प्रेरणा की घड़ी में गंगा को नदिया कहकर सम्बोधित करना तो उचित प्रतीत नहीं होता। 'नदिया' में संगीत की मात्रा अधिक सही, पर 'गंगा' में जो निकटता

है उसका भी तो मुकाबला नहीं। स्वर मचलते हैं और इस तनिक से परिवर्त्तन से गीत में नया जीवन आ जाता है—

धीरे बहो गङ्गा तैं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार
काहेन की तोरी नैया रे
काहे की करुवारि
कहां तोरा नैया खेवैया
के धन उतरइँ पार
धीरे बहो गङ्गा तैं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार
धर्मै कइ मोरी नैया रे
सत कइ लगी करुवारि
सैयां मोरा नैया खेवैया रे
हम धन उतरव पार
धीरे बहो गङ्गा तैं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार

—'धीरे बहो, गङ्गा, तुम धीरे बहो
मेरे प्रियतम को पार उतरने दो।'
'किस वस्तु की है तेरी नैया ?
किस वस्तु की है पतवार ?
कहाँ है तेरी नैया का खेवैया ?
कौन स्त्री पार उतरेगी ?'
'धीरे बहो, गङ्गा, तुम धीरे बहो
मेरे प्रियतम को पार उतरने दो।
धर्म की मेरी नैया है,
सत की पतवार लगी है,
नैया का खेवैया है मेरा स्वामी
मैं स्त्री पार उतरूंगी !
धीरे बहो, गङ्गा, धीरे बहो,
मेरे प्रियतम को पार उतरने दो !'

जैसे गङ्गा सब समझती हो, और एक स्त्री की प्रार्थना पर विचार कर सकती हो। यदि गङ्गा खामोशी से सब सुन लेती, और चुप रहती तो भला क्या बात बनती ? लोक-मानस की सामूहिक प्रतिभा द्वारा यह सम्भव हो सका कि गङ्गा भी कुछ कहे। गङ्गा के प्रश्न भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। जैसे स्वयं इस देश की संस्कृति ही ये प्रश्न पूछ रही हो। स्त्री एक-एक प्रश्न का उत्तर देती है और उसकी भाषा में वस्तुतः इस देश की संस्कृति ही बोलती है।

इस गीत की प्रशंसा में श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—'यह गीत जिस समय मन्द-मन्द स्वर में गाया जाता है, हृदय तरङ्गित हो उठता है। स्त्री-कवि के रचे हुए इस भावपूर्ण गीत की तुलना हिन्दी के उच्च-से-उच्च कवि की कविता से की जा सकती है।'

विश्व भारती के आचार्य क्षितिमोहन सेन के मतानुसार 'गङ्गा' शब्द एक आर्य-पूर्व जाति का है और इसका प्रयोग सदैव नदी के लिए किया जाता था। आज भी भारत के अनेक प्रदेशों में दूध-गङ्गा, कृष्ण-गङ्गा आदि गङ्गा शब्द के मूल अर्थ के परिचायक प्रतीत होते हैं। लंका की सिंहल भाषा में भी 'गङ्गा' शब्द नदी के लिए प्रयुक्त होता है; लंका की नदियों के लिए केलानिया गांग, महाबली गांग आदि नाम प्रसिद्ध हैं, और जब सिंहल साहित्य में गङ्गा का उल्लेख किया जाता है तो 'गङ्गा नम् गांग' (गङ्गा नाम की नदी) कहना पड़ता है।

यह कहा जा सकता है कि आर्यों को 'गङ्गा' शब्द इतना प्रिय लगा कि उन्होंने भारत की विशाल नदी के लिए इसे विशेष रूप से अपना लिया। यह उसी प्रकार हुआ जैसे काश्मीर में श्रीनगर की बड़ी झील का नाम 'डल' पड़ गया है, जबकि काश्मीरी भाषा में 'डल' शब्द झील का पर्यायवाची है। वस्तुतः यह एक लम्बी गाथा है कि किस प्रकार 'गङ्गा' शब्द आर्य संस्कृति का प्रतीक बन गया। यहां तक कि 'उत्तर राम चरित' की इति श्री करते समय भवभूति को रामायण की उपमा के लिए गङ्गा से अधिक सुन्दर कोई तुलना नज़र नहीं आती और वह कह उठता है—यह प्रसिद्ध कथा पापों से हृदय को मुक्ति दिलाकर पवित्र कर देती है और कल्याणों की वृद्धि करती है। यह जगत् के लिए मनोहर है और मंगलमयी है। माता और गङ्गाके समान (पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा,माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च)। इसी भावनासे प्रेरित होकर तुलसीदास कह उठे थे—वही कीर्ति, कविता और राज्यश्री भली है जो गङ्गा के समान सब के लिए हितकर हो।

—'कीरति, भणिति, भूति भलि सोई;
सुरसरि सम • सब कर हित होई

गङ्गा अपना प्रेम समान रूप से बांटती आई है जिससे सबका मङ्गल हो। उसका इतिहास कल्याण का इतिहास है। माता के समान वह कभी-कभी क्रोध भी करती है। पर कल्याण के सम्मुख क्रोध की मात्रा बहुत कम नज़र आती है। राष्ट्र को गङ्गा ने अपना आशीर्वाद सौंपा है। वह युग-युगान्तर से अपने परिचय का सूत्र गूँथती आई है। उसे स्मरण है उन सभी नदियों की मिलन-भावना जो अपने-अपने सिर की वेणी झुलाती हुई और पग के नूपुर की झंकार गुंजाती हुई उसमें आकर समा गई।

गङ्गा की दृष्टि में सब समान हैं। न कोई छोटा न कोई बड़ा। जैसे वह आज भी महाभारत-प्रणेता व्यास के शब्दों में पुकार-पुकार कर उन सभी जनपदों के निवासियों से कहना चाहती हो—मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है ('न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचिद्।') भारतीय संस्कृति का यही मूल-मन्त्र बुद्ध के 'समभाव' के आदर्श में प्रतिध्वनित हो उठा था, यही मंत्र चण्डीदास की पदावली में प्रतिध्वनित हुआ—'सवार ऊपरे मानुष, ताहार ऊपरे किछु नांई!' और आज भी जब ग्रामवासिनी भारतमाता की कोई पुत्री गा उठती है—'धीरे बहो, गङ्गा, तैं धीरे बहो!' तो उधर से गङ्गा भी अपनी पुरातन भाषा में कुछ कहना चाहती है, वह भी कुछ गुनगुनाती है। लोक-मानस खूब जानता है कि गङ्गा क्या गुनगुनाती है।

दो

गाये जा हिन्दुस्तान

वेरीनाग के नीले जल में थकान से चूर पाँव डाले, मैं सोच रहा था कि मैंने अपनी आयु का सर्वश्रेष्ठ भाग व्यर्थ खानाबदोशी में बिता दिया। एक ओर व्यक्तिगत परेशानियाँ, और दूसरी ओर लहूलुहान दुनिया की लहू-लुहान खबरें और फिर यह ख़याल कि देश में एक भयानक अकाल पड़ने वाला है। पचास से ऊपर भाषाओं के अढ़ाई तीन लाख लोकगीत जो मेरी खाना-बदोशी के साक्षी हैं, मुझे झूठी तसल्ली देने में असमर्थ थे। ऊपर शेषनाग की तरह फन फैलाये देवाकार पहाड़, नीचे मछलियों की जलक्रीड़ा और मुगल-स्थापत्य कला के अन्तिम चिन्हों पर गर्वित वेरीनाग! एक बार फिर ख़याल आया कि मैं कला की सृष्टि के लिये पैदा हुआ हूँ; और निश्चय ही पुरातन परम्पराओं के अशोक की भाँति, जो अपने तने पर किसी सुन्दरी के कोमल चरणों का स्पर्श अनुभव करते ही खिल उठता था जनता की कविता और प्रकृति की अद्भुत छटाओं ने मुझे कलाकार बना दिया है। लेकिन प्रकृति मुझ से ईर्ष्या करने लगी है। मुझे उन लोगों पर क्रोध आ रहा था जो यह समझते थे कि प्रत्येक झरने पर किसी-न-किसी नाग का हुक्म चलता है, यहाँ तक कि उसके क्रोध से झरना सदा के लिये निर्जल हो सकता है, और जो अन्ध-विश्वास से विवश होकर नाग और निर्झर को पर्यायवाची समझने लग गये थे। ये लोग साँपों की पूजा कर सकते हैं, एक कलाकार की नहीं। मुझे मालूम था कि प्रतिवर्ष वेरीनाग पर जेहलम का जन्म-दिन मनाया जाता है—भादों के शुक्ल पक्ष की तेरहवीं के दिन—जब इस नीले जल में नहाना पुण्यकार्य समझा जाता है। ये लोग झरनों की पूजा कर सकते हैं, एक कलाकार की नहीं।........ मुझे उस सुन्दरी पर भी क्रोध आने लगा जो प्रतिदिन आधी रात को, जब बेला के फूल खिल जाते हैं, अपना गजरा बना लेती थी और जो अब तक यह निश्चय न कर सकी थी कि इसे किस के गले में पहनाये—

बेला फूले आधी रात, गजरा के के गले डालूं?

मुझे उस गोरी पर भी क्रोध आने लगा जिसे निष्ठुर माता-पिता ने

एक गँवार के गले बाँध दिया था और जिसमें अब इतनी हिम्मत न थी कि अपने लिये कोई नई राह ढूँढ निकाले—

रतन कटोरी घी जले, चूल्हे जले कसार
घूंघट में गोरी जले, जिसके मूरख भर्तार

और फिर पूरब और हरियाने से हटकर मेरे मन की सुई छोटा नागपुर की तरफ़ घूम गई जहाँ आदिवासी उराओं युवती अपने सपनों के दूल्हे से प्रार्थना कर रही थी—

कूड़े डिन्-डिन् पाड़ा को पाडो
पच बाल राय रागे बरनर
पेरी बेड़ी पाड़ा को पाड़ो
पच बाल राय रागे बरनर

—'अरे ओ गीत गाने वाले! कोई भला सा गान छेड़ दे रे!
मरे हुओं की आत्माएँ सुनने आती हैं
कोई उषा का गीत छेड़ दे रे, गीत गाने वाले
मरे हुओं की आत्माएँ सुनने आती हैं।'

मैं सोच रहा था कि क्या सचमुच वास्तविकता यही है—'बेला फूले आधी रात'······'घूँघट में गोरी जले'······या वह उषा का गान जिसे मरे हुओं की आत्माएँ सुनने आती हैं। कवि बोला, ठीक तो है, पहले गान फिर कुछ और। फिर व्यङ्गकार की आवाज़ आई—वास्तविक तो जीवन की समस्याएँ हैं जिनसे डरकर तुम इतनी दूर निकल आये हो। फिर दूर कहीं से बुलबुल का गान गूँज उठा जैसे वह कह रही हो···'जीवन की समस्याएँ तो कभी समाप्त नहीं होतीं, बावरे! क्या अच्छा न होगा कि तुम मेरे गान की शरण आ जाओ?

साये बढ़ रहे थे। सूर्य की अन्तिम किरणें भी लुप्त हो गईं। स्वच्छन्द नटखट हवा भी मंथर हो गई। अब पानी में पाँव डाल रखने की ज़रूरत न थी। मेरे मन के पाताल में भील नाच रहे थे···टप-टप, थम-थम-थम। एक-एक भील के बाद एक-एक भीलनी। दायें हाथ से दायें साथी का बाज़ू थामे और बायें हाथ से बायें साथी का। नृत्य-भूमि के केन्द्र में चौमुखा दीया प्रज्वलित था। कवि कह रहा था, ये लोग सच्चे कलाकार हैं। न इन्हें साम्राज्य-विस्तार की परवाह है न स्वतंत्रता आन्दोलन की चिन्ता। ढोलक कहती है यह सब मेरे ताल का तमाशा है, यही वास्तविकता है। पायलें कहती हैं

यह सब हमारी झंकार का नशा है, यही वास्तविकता है। भील दुलहिन का नीम का गीत कितना अर्थपूर्ण है—

कड़वा लीवड़ानू एक डाल मीठू रे
मारो धनी रंगीलो

—'कड़वी नीम की एक शाखा मीठी है रे !
मेरा धनी रंगीला है।'

कुछ पैसोंके बदले में दिन-भर मिट्टी खोदते-खोदते इनके बेलचों के मुँह टेढ़े हो गये, लेकिन इस समय वे कड़वी नीम की मीठी शाखा के नीचे अपना आज़ाद नाच नाच रहे हैं। नृत्य और गानके आरोह-अवरोह उनके लिये यथेष्ट हैं। फिर व्यङ्गकार की आवाज़ आई, भीलों का नाच पलायन-मात्र है। उनकी संस्कृति उनके लिए अफीम बन गई है जो वास्तव में विष है, परन्तु मादक भी है। कवि बोला, तुम ग़लत कहते हो। जीवन के पेड़ की मीठी शाखा के नीचे कलाकारों की कला जीवित रह सकती है। ये लोग निश्चय ही उन सामान्य जनों का उपहास करने का अधिकार रखते हैं, जो कानून बनाते हैं, दफ्तर में नौकरी करते हैं और नाचघर में देर हो जाय, तो सुबह को एस्प्रीन की गोलियाँ खाए बिना सिर दर्द से छुटकारा नहीं पा सकते।

दूधिया, श्वेत चाँदनी खिल गई थी। वातावरण में सुगंधियाँ बसी हुई थीं। सुगंधियाँ और सरगोशियाँ। आँखें मीच कर मैंने अधखुली पलकों में से वेरीनाग की तरफ़ देखा। यों प्रतीत होता था कि यह चिनाब है और सोहनी कच्चे घड़े पर तैर रही है। कवि बोला—सोहनी अब भी जीवित है—

सोहनी आप डुब्बी
जिन्द तरदी
विच्च झनावा दे

—'सोहनी स्वयं डूब गई,
पर उसकी आत्मा तैर रही है
चिनाब की धाराओं पर तैर रही है।'

व्यंगकार कह रहा था, ये पंजाबी लोक-गीत व्यर्थ हैं। कच्चे घड़े पर वाली सोहनी मूर्ख थी।

ारी दशा उस पुजारी की-सी थी जो अपने मन-मन्दिर में अनगिनत

प्रतिमाएँ रखता चला गया हो। अब इस मन्दिर में भील छोकरियाँ नाच रहीं थीं—देव-दासियों की तरह—

आखियाँ नी काजल रली-रली जाय
कापड़ी ना फूँदा नमी-नमी जाय
रीसाई ना जाजो रे सोरियो घूमसी रे लोल
आवो-आवो रे सोरियो, घूमसी रे लोल

—'आँख का काजल फैलता जा रहा है
अँगिया का फुँदना झुकता जा रहा है
रूठकर न चली जाइयो री छोकरियो हम घूम-घूम कर नाचेंगी
आओ आओ री छोकरियो, घूम-घूम कर नाचेंगी।'

कवि बोला,—आँखों में काजल की रेखायें फैल जाने से पूर्व ही तो झूमर नाच का आनन्द है। वह पूरब का गान भी तो सुना होगा—

कभी आप हँसे, कभी नैन हँसे, कभी नैनन बीच हँसे कजरा

फिर व्यङ्गकार की आवाज़ आई—हँसते हुए काजल की आयु कै घड़ी की होगी...व्यङ्गकार कहे जा रहा था—काजल में क्या धरा है? गाना ही हो, तो मजदूरों और किसानों का अन्तर्राष्ट्रीय गान गाओ—ऐ, दुनिया के पीड़ित मानवो, उठो-उठो! ऐ, भूखे मेहनत करने वालो! न्याय का ज्वालामुखी उबल रहा है। अपने अतीत को भुला दो। सारी दुनिया के गुलामो! एक साथ मिल-कर उठो। दुनिया नई करवट ले रही है। अब तक हम कुछ भी न थे। अब हम ही सब कुछ होंगे। यह हमारा अन्तिम संघर्ष है। आओ, हम-तुम एक हो जायं! दुनिया की सब जातियाँ एक हो जायंगी।

चाँदनी रात की हर सिलवट कहती थी चाँद है, तो छाया है। यही वास्तविकता है। तारे कहते थे, हम कवि पर भी उसी प्रकार चमकते हैं जैसे व्यङ्गकार पर......युद्ध भीषण से भीषणतर होता जाता था। बम वर्षा, आग-ही-आग, भूख और मृत्यु। कौन जाने यह युद्ध कब समाप्त हो, मैंने सोचा। युद्ध से पहले इस देश में भयानक अकाल पड़ने वाला है, उस समय मुझे उस अहीर का ध्यान आया जिसका प्रेम भूख के मारे समाप्त हो रहा था—

भुखिया के मारे बिरहा बिसरिगा
भूल गई कजरी कबीर

देखि क गोरी क मोहनी सुरतिया
अब उठे ना करेजवा माँ पीर

—'भूख के मारे बिरहा बिसर गया।
कजरी और कबीर भी भूल गये ।
गोरी की मोहिनी सूरत देखकर
अब मेरे कलेजे में पीड़ा नहीं उठती ।'

अपनी आर्थिक दशा पर विचार करते-करते एक बार फिर अपने अतीत पर झुँझलाहट सी हुई । व्यर्थ ही मैं लोक-गीतों की तलाश में भटकता रहा । व्यर्थ ही घाट-घाट का पानी पीने ही को आदर्श बनाये उम्र बरबाद करता रहा । फिर मैंने यह कहकर अपने मन और मस्तिष्क को संतुष्ट किया कि विश्व-व्यापी संकटों के सम्मुख मेरी विपदा का क्या महत्व है ? कवि बोला, विश्व-भ्रमण से बड़ी कोई शिक्षा नहीं । कला की परिक्वता के लिए इससे बड़ा कोई सहायक नहीं ।

जुगनूँ अपनी आँख-मिचौनियों में मग्न थे । पास ही एक मुगलई झरोखे में दीपक जल रहा था । वेरीनाग की रात एक कोमलांगी सुन्दरी के समान नर्म, गहरी साँसें ले रही थी । उस समय मेरे मन की सुई बिहार के तिरहुत जनपद की ओर घूम गई, और एक किसान की आवाज़ आने लगी—

हे भोला बाबा केहन कयलौं दीन
खेती पथारी भोला से हो लेला छीन
भाई सहोदर से हो भे गेल भीन
घर में खरची बाहर न मिले रीन
गाँव के मालिक न पडे दइय नींन
एके गो लोटा छलइ भेलइ तीन
पनिया पिवइत काल होइय छिनाछीन
एके गो बैल बच गेल महाजन लेलक रीन
कर कुटुम्ब सब भेलइ परमीन

—'हे शिव बाबा, तुमने मेरे दिन कितने दुख भरे बना डाले ।
थोड़ी बहुत खेती थी, वह भी तुमने छीन ली ।
सगे भाई थे, वे सब अलग होगये ।
घर में खर्च नहीं बाहर ऋण नहीं मिलता ।

गाँव का जमींदार रात को सोने नहीं देता।
एक लोटा है और हम तीन भाई हैं।
पानी पीते समय छीना-झपटी होने लगती है।
एक बैल बच गया था, उसे महाजन ने ऋण के बदले ले लिया।
कुटुम्ब वाले सब पराये हो गये।'

कवि बोला—यह तो वही 'दो और दो चार रोटियाँ' वाली कविता है। कोई कोमल भावना न हो, तो कविता व्यर्थ है। व्यंगकार कह रहा था, मुझे तो यह गिला है कि ये लोग किस्मत के गुलाम हैं। अर्थशास्त्र की बातों में भी भगवान् को ले बैठते हैं। अपनी निर्धनता को देवताओं के कोप का परिणाम समझते हैं। जब इस प्रकार जहालत है, तो यहां क्रान्ति कैसे आ सकती है।

फिर कहीं से बुंदेलखंड की एक फाग गूँज उठी—

गेहूँ हते सो हो गये, भुस ले गयी अंदवार
टोटे में टलवा गये, बाढ़ी में खगवार
जरीबाने में लिख लौ दोई जोबना

—'गेहूँ था वह खत्म हो गया, भूसे को झक्कड़ उड़ा ले गया।
घाटे में बैल बिक गये, बनिये का अनाज लौटाने में मेरी हँसली चली गई।
जुर्माने में मेरी दोनों छातियाँ लिख कर ले जाओ।

व्यंगकार ने कवि से पूछा—इस अजर कटुता और व्यंग के आगे बोलने का साहस है तुम में? यह दबी हुई, पिसी हुई जनता, न जाने कब तक अपनी छातियाँ पेश करती रहेगी।

कवि मौन था। यह स्वप्न तो न था। प्रतीत होता था, वेरीनाग के मुगलई खंडहरों के उस पार—उन अंधे, बहरे, गूँगे खँडहरों के उस पार बंगाल बसा हुआ था। कोई नवयुवती अपने प्रियतम को बुला रही थी—

निशीते जाइयो फूल बने, हे भ्रमरा
निशीते जाइयो फूल बने
जालाए चांदरे बाती—
जेगे रब शारा राती गो
कोई ओ कथा शिशिरेरो शने, हे भ्रमरा
निशिते जाइयो फूल बने

जोदी बा घुमाए पोड़ी
शपनेरो पथ धरियो
नीरवो चरणे जाइयो, हे भ्रमरा
निशिते जाइयो फूल बने
तोमार गगन जैनो भांगे ना
आमार गान जैनो भांगे ना
फूलेर घूम जैनो भांगे ना
डालेर घूम जैनो भांगे ना
निशिते जाइयो फूल बने, हे भ्रमरा
निशिते जाइयो फूल बने

—'आधी रात को फूलों के वन में दर्शन दीजियो, रे भौंरे !
आधी रात को फूलों के वन में दर्शन दीजियो।
चाँद की बाती जलाकर,
रात भर मैं जागती रहूँगी रे
ओस की बूँदों से बातें किये जाऊँगी रे
आधी रात को फूलों के वन में दर्शन दीजियो रे।
यदि मैं सो भी जाऊँ
सपनों के पथपर चल पड़ूंगी रे
नीरव चरणों के साथ दर्शन दीजियो रे भँवरे !
तुम्हारा गान थमने न पाए,
मेरी नींद टूटने न पाए,
फूलों की नींद टूटने न पाए,
डालियों की नींद टूटने न पाए,
आधी रात को फूलों के वन में दर्शन दीजियो रे भँवरे !
आधी रात को फूलों के वन में दर्शन दीजियो।'

कवि कह रहा था—भ्रमर का गीत थमेगा नहीं और फूलों के वन की नींद भी नहीं टूटेगी।

व्यंगकार बोला—मियाँ निकलो इस भूल-भुलैयाँ से। जीवन की असीम कटुता से यों छुटकारा नहीं मिलने का। वहाँ भूमि पथरीली है ना ! और यहाँ नशीले सपने की पगडंडियों पर रेशम बिछ जाता है।

कवि कह उठा—भगवान् की सौगन्ध ! बेथोविन इसे सुन पाता, तो अश-अश कर उठता। यह तो तुम जानते ही हो कि बेथोविन को अपनी विख्यात सिंफनी की मौलिक लय एक लोकगीत से प्राप्त हुई थी।

मैंने व्यंगकार की बात पसंद की। यथार्थवाद की पथरीली भूमि मुझे बुला रही थी।

कवि ने गरम होकर कहा, मुझे छोड़कर तुम कहीं न जा सकोगे। अपना वचन याद करो।

व्यंगकार भी झुँझलाया, मैं जाता हूँ, तुम उस पुराने कैदी की तरह हो, जिसे लाख कोई कारागार से आज़ाद करे, पर उसके पांव घूम-फिर कर उसी कारागार के द्वार पर पहुँच जाते हैं।

चारों ओर चांदनी छिटकी हुई थी। परछाइयों की अपनी सत्ता थी—कोयल के अंडों पर भूरे-भूरे धब्बों की भांति। प्रतीत होता था रात लंबी होती चली जायगी—राजकुमारी की सौ-साल की निद्रा की भांति।

कवि कह रहा था—बुलबुल का गान मुझे उतना ही प्यारा है, जितना अरनेस्ट टॉलर को वह घोंसला प्यारा था जिसे एक अबाबील ने उस जेल की कोठरी में बनाया था, जहाँ टॉलर पांच वर्ष तक कैद रहा और जिसका चित्र उसने अपनी विख्यात कविता में अङ्कित किया है।

व्यंगकार बोला—तुमने केवल टॉलर का नाम सुन रखा है। तुम उस अफीमी की तरह हो, जिसे नशा चाहिये, चाहे वह विष ही क्यों न हो ? तुमने समझा, टॉलर की अबाबील वाली कविता भी अफीमी की गोली होगी, जिसे तुम हथेली पर मल कर मुँह में डाल लोगे और एक घूँट पानी के साथ निगल जाओगे। फिर टॉलर का नाम न लेना। एक अफीमी क्या जाने टॉलर की कदर। टॉलर ने क्रान्ति को जीवित भाषा दी थी।

फिर राजस्थान की आवाजें सुनाई देने लगीं। कोई गोरी अपने घुड़-सवार प्रियतम से रुकने की प्रार्थना कर रही थी—

नाग जी घड़ी दोये घुड़ला थाम रे
वैरी घूंघट री छैयां करूं, नागजी
नाग जी, तावड़ियो पापी पड़े,
वैरी, घायल करदी तावड़े, ओ नाग जी
नाग जी, मन लोभी, मन लालची रे

वैरी, मन चंचल मन चोर, अरे नाग जी
नाग जी, मन रे मते न चालिये रे
वैरी, पलक-पलक मन और, ओ नाग जी
नाग जी, तड़क-तड़क मत तोड़ रे
वैरी, कतवारी रे तार ज्यों नाग जी
नाग जी, ज्यों टूटे त्यों जोड़ रे
वैरी, प्रीत पुरानी न पड़े नागजी
नाग जी, खायो खजाने रो माल रे
वैरी, लूण हरामी हो गयो नाग जी
नागजी, एक बार घुड़लो मोड़ रे
वैरी, मनड़ री वातां मैं कहूँ, नाग जी

—'नाग जी, दो घड़ी के लिए घोड़ा थाम लो रे।
अरे वैरी, आओ तुम पर घूँघट की छाया कर दूँ, नागजी।
नागजी, भयानक धूप पड़ रही है, अरे हाँ।
अरे, अरे वैरी धूप ने मुझे घायल कर दिया, नागजी।
नागजी, मन लोभी है, मन लालची है रे।
अरे वैरी, मन चंचल है, अरे नागजी।
नागजी, मन के पीछे मत चलो रे।
अरे वैरी, पलक झपकाते ही मन और-का-और हो जाता है, नागजी।
नागजी, प्रीत को यों अनायास मत तोड़ डालो रे
अरे वैरी, जैसे चरखा कातने वाली सूत का तार जोड़ डालती है,नागजी।
नागजी, टूटने के पश्चात तुरंत इसे जोड़ दो रे।
अरे वैरी, प्रीत तो कभी पुरानी होती नागजी।
नागजी, तुमने खज़ाने का माल खूब खाया है रे।
अरे वैरी, तुम नमकहराम हुए जाते हो, नागजी।
नागजी, एक बार घोड़ा मोड़ लो रे।
अरे वैरी, मैं मन की बातें कहूँगी, नागजी।'

कवि बोला—मुझे इस गीत का वह भाग सब से अधिक रुचिकर प्रतीत जहाँ चरखा कातने वाली के हाथ में सूत का तार टूटने और जोड़ने से प्रेम की तुलना की गई है। मैंने स्वयं मारवाड़ियों के मुख से अनेक बार यह गीत सुना है।

व्यङ्गकार कह उठा—और सब सच, पर मारवाड़िनों के गाने की बात झूठ।

विचार आया कि उठकर डेरे को चल दूँ। कवि और व्यङ्गकार दोनों से छुट्टी पाकर आराम से सो जाऊं। इस चाँदनी रात की मोहिनी समझिये कि मैं जमकर वहाँ बैठा रहा। हल्की-हल्की गुदगुदी की भाँति इन्दौर का वह लोकगीत मेरे मन और मस्तिष्क को सहलाने लगा जिसमें एक गोरी अपने प्रियतम से कहती है, तुम चले जाओगे तो मैं खिचड़ी पकाऊँगी, रह जाओ तो खीर। प्रियतम कहता है, तुम्हारी खिचड़ी चख लूँगा और तुम्हारी खीर खा लूँगा। पर मुझे जाना है ज़रूर! गोरी कहती है, तुम चले जाओगे, तो सफेद साड़ी पहनूँगी, रह जाओ तो दक्खिन की साड़ी। प्रियतम जवाब देता है, तुम्हारी सफेद साड़ी को देख लूँगा। तुम्हारी दक्खिन की साड़ी का रस ले लूँगा, पर मुझे जाना है ज़रूर। गोरी कहती है, तुम चल दोगे, तो कम्बल बिछाऊँगी, रह जाओ तो फूलों की सेज। प्रियतम उत्तर देता है, तुम्हारे कम्बल पर बैठकर देख लूँगा, तुम्हारी फूलों की सेज का रस ले लूँगा पर मुझे जाना है ज़रूर।

कवि कह रहा था—प्रेम कभी मरता नहीं।

व्यङ्गकार बोला—जिससे मनुष्य जितना प्रेम करता है, उससे उतनी ही घृणा भी करता है। मैं कहता हूँ प्रेम से कहीं अधिक घृणा ही काम कर रही होती है।

सूई घुमाई जा चुकी थी, अब पंजाब से आवाज़ आ रही थी—

पावे—इक्क वारि मर गोरिये, मैंनू रीझ रंडयां दी आवे
झामां—पेके जाके मर गोरिये छुट्टी लै के मकानी आमां
खालसा-पेके जाके मर जावांगी, मेरी मढ़ी ते न आयीं भलया मानसा
तेली—मापेयां दी धी मर गई, रुड़ गयी चन्नन दी गेली
होरी—सोहरियां दी नूंह मर गयी दम्मां दी बोरी
बोता—इक्क वारी बोल गोरिये, तेरी मढ़ी उत्ते आन खडोता
छोले—मडेयां तों उड तोतेया, कदे मोए मुरदे नहीं बोले
माया— इक्क बारी ज्यों गोरिये, रंडा हो के बड़ा दुख पाया

—'एक बार मर जाओ गोरी, मुझे रंडुवों पर ईर्ष्या होती है।
मायके में जाके मर जाओ गोरी, छुट्टी लेकर शोक मनाने आऊँगा।
मायके में जाकर मर जाऊँगी, मेरी समाधि पर मत आना, भले आदमी।

माँ बाप की बेटी मर गई, चंदन की शहतीरी बह गई ।
सास ससुर की बहू मर गई रुपयों की बोरी बह गई ।
एक बार तो बोलो गोरी, मैं तुम्हारी समाधि पर खड़ा हूँ ।
समाधों में से उड़ जा रे तोते, मरे हुए लोग कभी नहीं बोलते ।
एक बार तो बोलो गोरी, रंडुवा होकर मैंने बड़ा दुख उठाया है ।

व्यंगकार बोला—गोरीने जरूर आत्म-हत्याकी होगी ! खालसा भी अजीब आदमी है ! निश्चय ही वह मानसिक-शून्यता से आक्रान्त है । वह न प्रेम कर सकता है न घृणा ।

उस समय एक और पंजाबी लोक-गीत गूँज उठा । कवि और व्यंगकार दोनों एकाग्र मन से इसे सुनने लगे —

पूडे नू चित्त करे ते आटा घोलेया।
आटा घोलेया जाय, जे पहला पूडा पाया गवांडन पुच्छदी
गवांडन पुच्छदी, जे दूजा पूडा पाया तां सस्सू झाकदी
सस्सू झाकदी, जे गोडे हेठ लकोवां तां गोडा सड़ गया
गोडा सड़ गया, जे पीढ़ी हेठ लकोवां तां पीढ़ी सस्स दी
पीढ़ी सस्स दी, जे मंजा हेठ लकोवां, तां मंजा जेठ दा
मंजा जेठ दा, जे कोठी हेठ लकोवां, तां चूहे झाकदे
चूहे झाकदे, जे पौड़ी लै के चढ़ी, तां टम्बा मड़केया
टम्बा मड़केया, जे कोठे लै के चढ़ी, तां इल्ल भौंदियां
इल्लां भौंदियां जे लै चौबारे वड़ी, तां माही आ गया
माही आ गया, हत्थ विच्च अल्लियां छमकां, तां सानू मारदा
सानू मारदा, सस्सू दे मन चा कि नूह नू कुट्टेया
नूह नू कुट्टेया मर जाऊ पराई धी, पुट्टेया

—'पूआ खाने को जी चाहता है और मैंने आटा घोल लिया ।
आटा घोल लिया, पहला पूआ तवे पर डालती हूं तो पड़ोसिन पूछ-ताछ करती है ।
पड़ोसिन पूछताछ करती है, दूसरा पूआ तवे पर डालती हूँ, तो सास ताकने लगती है ।
सास ताकने लगती है, इसे घुटने तले छिपाती हूं, तो घुटना जल गया ।
घुटना जल गया, पीढ़ी के नीचे छिपाती हूँ तो पीढ़ी सास की है ।
पीढ़ी सास की है, खाट के नीचे छिपाती हूँ तो खाट जेठ की है ।

खाट जेठ की है, कोठी के नीचे छिपाती हूँ तो चूहे देखते हैं।
चूहे देखते हैं, इसे लिये जीने पर चढ़ गई, तो डंडा तड़क गया।
डंडा तड़क गया, मैं छत पर चढ़ गई, तो चीलें मँडलाती हैं।
चीलें मँडलाती हैं, मैं चौबारे में चली गई तो प्रियतम आगया।
प्रियतम आ गया, उसके हाथ में ताजी छड़ियां हैं, और वह मुझे पीटता है।
मुझे पीटता है, सास प्रसन्न है कि बहू को पीट डाला।
बहू को पीट डाला, अरे पराई बेटी मर जायगी और तू बरबाद हो जायगा।

व्यंगकार बोला—मैंने तो पहले ही कह दिया था कि आदमी जिससे तना प्रेम करता है, उससे उतनी ही घृणा भी करता है, बल्कि प्रेम से ीं अधिक घृणा ही काम कर रही होती है।

कवि बोला—तुम्हारी बात पर मैं विचार कर रहा हूं।

व्यंगकार बोला—नारी अजब बला है। अनगिनत शताब्दियों से वह पुरुष के हाथों पिटती रही है, फिर भी वह उसे प्रेम किये जाती है।

कवि चुप था। उसकी अवस्था उस मदारी की-सी थी जिसे सदा खोटा पैसा नसीब होता हो। उस समय करनाटक की आवाज़ सुनाई देने लगी।

सुरपुरा बेलेसली सुरपुरा तेल्ली
सुरपुरा गुड्डा चगी अली नन नन्था
वेनीसी ना न्यायाँ नुरसी अली

—'सुरपुरा गाँव का भाग्य जागे, सुरपुरा में बीज बोए जाएँ,
सुरपुरा की पहाड़ी हरी-भरी हो जाय
मुझ सरीखी नारी का न्याय हो जाय।'

अबकी व्यंगकार कुछ न बोला। मैंने फिर सूई घुमा दी। यह तामिलनाड की आवाज़ थी—

इरषी इरूक कुदूदु परुपि रु कुदूदु
अडूपु किल्लादु शंगड़म
कातिड़ कद्दु तूल पर कद्दु
कद विल्लाद शंगड़म
पोंडाइ वदु मुन्ने निर किराल

पुडोई इल्लाद शंगड्म
दाशान वंदु वाश मिल निर किरान
काश इल्लाद शंगड्म
—'चावल है, दाल है,
चूल्हा नहीं, यही कठिनाई है।
हवा चल रही है, धूल उड़ती है,
किवाड़ नहीं, यही कठिनाई है।
पत्नी आकर सन्मुख खड़ी है,
साड़ी नहीं—यही कठिनाई है।
भिखारी आकर द्वार पर खड़ा है,
अधेला नहीं—यही कठिनाई है।'

कवि की दशा उस गिलहरी की-सी थी, जो जंगल से अखरोट उठा-उठा कर अपने मोखे में जमा करती जाय। उसे प्रसन्न करने के लिये मैंने गुजरात की आवाज़ प्राप्त की—

काई मधुर मधुर रंकारती, अमे घंटड़ियो
अमे करिये मङ्गल नाद, मधुरी घंटड़ियो
अमे पोढ़या देव जगाड़िये, हो घंटड़ियो
—'कोई मधुर झंकार करती हुई हम हैं घंटियां
हम मंगल गान करती हैं, मधुर घंटियां
हम सोते देवता को जगाती हैं—घंटियां।'

व्यंगकार बोला—अब बंद भी करो ये घंटियाँ। ये देवताओं को जगा सकती हैं। भूखे मानव के भाग्य को जगाना इनके बस की बात नहीं। किसी भी पत्नी को आत्म-हत्या से रोकने की शक्ति इनमें कहाँ? न ये सुरपुरा गाँव की नारी का न्याय कर सकती हैं, न तामिलनाड की कठिनाइयों को दूर कर सकती हैं।

बुलबुल का गान शायद हमारे सौ गीतों पर भारी था। प्रतीत होता था कि मेरी आत्मा से शताब्दियों का बोझ उतर गया।

पर कवि बोला—वेरीनाग मानो एक भूरी भैंस है—जुगाली करती हुई भूरी भैंस—इसे मेरी भूख की क्या चिन्ता?

कवि का ध्यान बदलने के लिये मैंने फिर सूई घुमा दी। उड़ीसा के आदिवासी सावरा लोग अपना सामूहिक गान छेड़ रहे थे—

ए एरतुपला लेम सी तम
ए एरतुपला लेम जेंग तम
सरजी आनेप बन सेन ताई
आमान उमते बारते सर बजालम
रडुले डी ताट डकु अमते
अब्ब गार लें डाकु अमते

—'अरे हल तेरे हाथों को नमस्कार !
अरे हल तेरे पैरों को नमस्कार !
शाल वृक्ष को सराहता हूँ
जिससे तुम बनाये गये हो ।
तुम सदा बलवान रहो,
तुम सदा कार्य के लिये तत्पर रहो ।'

न जाने कितनी सदियों से यह गीत गाया जा रहा था—यह गीत जिस में सावरा जनता ने अपनी-आत्मा तक समो दी थी । उस समय मुझे दो युवतियों का ध्यान आया । एक ने गीत लिखाने से तंग आकर कहा था, तुम गीत पर गीत पूछे जा रहे हो, यह क्यों नहीं पूछते कि गेहूँ का क्या भाव हो गया ? दूसरी ने पत्थर कूटते-कूटते कहा था, मेरा नाम है 'रोटी खाओ, पानी पियो ।' कवि अपना नाम 'न फल न रोटी' बताता या व्यंगकार के सम्मुख उसे 'गीत-ही-गीत' की उपाधि दी जा सकती थी ।

टिमटिमाते दिये की ओर देखते हुए व्यंगकार बोला, तेल के बिना तो दिया भी नहीं जलता । खाना खाये बगैर कवि न जाने कैसे गीतों में मग्न रह सकता है...मैंने एक शराबी की तरह कहा, लो एक घूँट और सही। और अबकि मैंने गुलमर्ग की ओर सूई घुमा दी—

गूर-गूर करयो कनके दूरो, कनके दूरो
दिला हींद शाहजाद आख लाहूरो, आख लाहूरो
नाल छ खाल माल हटा हन जूरो, हटा हन जूरो
टंड मार दै ओ मरगे सूरो, मरगे सूरो
लटा-लटा नीमों हता मनसूरो, हता मनसूरो
आँगन मूपक, वांगन जूरो, वांगन जूरो
सून क्या रीनो ठोला जमबूरो, ठोला जमबूरो
ज़नहा प्रोता, छू न दस्तूरो, छू न दस्तूरो

—'अपनी गोद में तुझे झुलाऊँगी, मेरे कानों के बुन्दे, ओ मेरे कानों के बुन्दे !

तुम दिल्ली के शाहज़ादे हो, लाहौर आये हो, लाहौर आये हो !

बादाम की गिरियों का हार है, तुम चलते हो तो आवाज़ आती है, आवाज़ आती है।

पैरों की उंगलियों के सिरे तो नहीं जल गए, ओ पागल मनसूर !

मरकर राख होने वाले, ओ मर कर राख होने वाले

बार-बार मेरे यहाँ आओ, पागल मनसूर, ओ पागल मनसूर !

मेरे आंगन से मत गुजरो, बैंगन चुराने वाले, ओ बैंगन चुराने वाले !

तेरे लिये क्या पकाऊँ ?—अंडे का सालन ? अंडे का सालन ?

घूँघट तो उलट देती, पर यह दस्तूर नहीं, दस्तूर नहीं ।'

भूखा कवि बड़े ध्यान से सुन रहा था, बोला—बहुत सुन्दर गान है, त्र-रिल, त्रिल-रिल—जैसे कोई झरना गुनगुना रहा हो। सच जानो तो इससे ऐसी सुगन्ध आती है जो ताजा कटे हुए देवदार की सुगन्ध से भी ...कर है।

मेरा मन अच्छा खासा रेडियो बन गया था, ज़रा सूई घुमाई और गान बदल गया। कवि की दशा कुछ उस व्यक्ति की-सी थी जो महफिल में बैठा हो पर फिर भी उसे यह अनुभव हो कि उसके चारों ओर एकान्त ने जाल बुन रखा है। मैंने फिर सुई घुमा दी, रेडियो बोल रहा था—यह वेरीनाग है। अभी आप बुलबुल का गाना सुन रहे थे, अब एक काश्मीरी लोक-गीत सुनिये —'कह दो परियों से कि धान के पूले बाँध लें।'

व्यंगकार ने झट से सुई घुमाते हुए कहा कि हिन्दुस्तान गुलाम का गुलाम है। अन्धकार ही अन्धकार है। अविद्या ही अविद्या। भूख ही भूख। लहूलुहान दुनिया के लहूलुहान समाचार सुनकर तुम्हारी तबीयत बहुत परेशान रहती है। और तुमने कहा था न कि युद्ध से पहले देश में एक भयानक अकाल पड़ने वाला है।

हिन्दुस्तान की समस्याएँ भूत-प्रेतों की तरह मेरे कानों में चीखने लगीं। कवि ने सँभल कर कहा, लाख अन्धकार हो, अविद्या हो, गुलामी हो, गान ही सत्य है। नृत्य ही सत्य है। रंग ही गान है। गान ही रंग है। घबराओ मत, गान ही स्वतन्त्रता है, गान ही उषा है...

मेरा रेडियो बोल रहा था। अभी आपने दीपाली खास्तगीर से रवि

ठाकुर का गान सुना, अब जयश्री मजूमदार से एक बंगाली लोकगीत सुनिये—

ओ भाई, नायेर मांझी, शुन बोली
दुःखेर कथा शुन
कतो मानव गोरू मोरे गेलो जोष्ठी माशेर झड़े
ओ भाई, जोष्ठी माशेर झड़े
ताल गाछे ते सालिक पाखी डीमे ताओत जोड़े
ओ भाई, डीमे ताओत पाड़े
आमार बऊ गेछे बापेर बाडी, मोरेछे तार पिशी रे
ओ भाई, नायेर माँझी, शुन बोली, दुःखेर कथा शुन

—'अरे भाई, नैया के माँझी, सुनो मैं बताऊँ,मेरे दुख की कथा सुनो।
कितने ही आदमी और पशु मर गए, ज्येष्ठ मास के तूफान में
अरे भाई, ज्येष्ठ मास के तूफान में।
ताल वृक्ष पर सालिक पंछी अंडे से रहा है
ओ भाई, अंडे से रहा है।
मेरी बहू, बाप के घर गई है, उसकी फूफी मर गई
अरे भाई, नैया के मांझी, सुनो मैं बताऊँ, मेरे दुख की कथा सुनो!'

कवि और व्यंगकार मौन थे। मध्यप्रान्त के गोंडों के ढोल बजने लगे और उनके 'करमा नाच' का गीत गूँज उठा—

थारी बेंचे, लोटा बेंचे और गरे का हार रे
इतना में पुजे नांहीं जीओं घबराए मायाँ,
ए मंडला जीला में कठिन जीना हाय रे

—'मैंने अपनी थाली बेच दी, लोटा बेच दिया और गले का हार भी,
इतने पर भी पूरा ऋण नहीं चुकता, जी घबराता है प्रियतम,
इस मंडला जिले में जीवन कठिन हो गया, हाय रे!'

कवि और व्यंगकार अब भी मौन थे। मैंने कहा—लोकगीतों में देश का वास्तविक चेहरा नजर आता है। यह देश की अपनी आवाज़ है। अपनी बीती। हर प्रकार की बनावट से अछूती।

कवि बोला—नये युग के सम्मुख नये गान जन्म ले रहे हैं। युद्ध का समय है। पंजाब के 'गिद्धा नाच' में आजकल स्त्रियाँ एक नया गीत गाने लगी हैं—

अग्गे राही राह पुच्छदे
हुण पुच्छदे लड़ाई किथे

'पहले राही रास्ता पूछते थे
अब वे पूछते हैं, युद्ध कहाँ छिड़ गया है।'

व्यंगकार ने कवि के इस बयान की दाद की और कहा, तुम ठीक कहते हो। तुमने वह पंजाबी गीत भी तो सुना होगा—

गड्डी सरकारी पुलां तों लंघदी आ छम करके
पुत्तर मावां दे, धिन्नी वेंदी आ बंद करके

—'सरकारी रेलगाड़ी पुलों के ऊपर से छम-छम करती गुज़र रही है
माताओं के पुत्रों को बन्द किये हुए लिये जा रही है।'

व्यंगकार ने फिर कहा—यह गीत भी इसी युद्ध के समय में उत्पन्न हुआ जबकि प्रतिदिन रेलगाड़ियों में हजारों नये रंगरूट अपनी-अपनी छावनियों को जाते दिखाई देते हैं। माँ आखिर माँ है। उसे तो बेटों का वियोग विष का घूँट मालूम होता है। इस विवशता में वह अपने पीर का आश्रय लेती है और उससे दुआ माँगती है कि उसके लाडले बेटे सही सलामत घर को लौटें।

मैंने कहा—पर नये गीत अभी कुठाली में पिघलते सोने की तरह हैं।

वेरीनाग की वह रात मुझे सदा याद रहेगी, मेरे सामने भारतवर्ष का मानचित्र था—किसी दैत्याकार किसान के हाथ की तरह, भाग्य की अच्छी-बुरी रेखाओं की तरह इस पर अनगनित पगडंडियाँ फैली हुई थीं। जो पगडंडी मुझे वेरीनाग तक ले आई थी, अब गहरी-गहरी परछाइयों में यों चमक रही थी जैसे किसी इतराई हुई, लजाई हुई दुलहिन की माँग।

कवि बोला—तुम्हारे पाँव उलझे हुए रास्तों को सुलझा चुके हैं।

व्यंगकार कह उठा—पर कवि स्वयं तुम्हारे मानसिक पथ अब तक उलझे हुए थे।

मैंने कहा—मेरे साथी, मेरे मित्र, मेरे कवि, मेरे व्यंगकार ! आपस में यों मत उलझो। लोकगीत जिंदाबाद ! आओ हम मिलकर नारा लगाएँ—गाये जा हिन्दुस्तान।

तीन

लोक-कला की परम्परा

मोएंजोदड़ो अजायबघर में मैंने एक नर्तकी की मूर्ति देखी थी, जिसे देखते ही ५,००० वर्ष पहले के समाज का सजीव चित्र मेरी आँखों में फिर गया। बाद में पता चला कि मोएंजोदड़ो युग की नर्तकी की यह मूर्ति असली मूर्ति की नकल-मात्र है, और असल मूर्ति तो लाहौर के अजायबघर में रखी हुई है। मोएंजोदड़ो से लौटने पर मैं अन्य झमेलों में उलझ गया और मुझे नर्तकी की असल मूर्ति देखने की बात एकदम भूल गई। कोई ढाई वर्ष पश्चात् श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ लाहौर अजायबघर देखने गया, तो वहाँ मोएंजोदड़ो अजायबघर के क्यूरेटर से भेंट हो गई। अनायास उस मूर्ति की चर्चा हुई तो वे बोले, 'जी हां आजकल वह देवी जी यहां पधारी हुई हैं।' झट इन के साथ जाकर नर्तकी की असल मूर्ति देखी, और मैंने नतमस्तक होकर उसे प्रणाम किया। ५,००० वर्ष पुरानी नृत्यकला इस स्त्रीके एक-एक अंगसे प्रदर्शित हो रही थी।

पिछले दिनों एशियाई सम्मेलन की एक प्रदर्शिनी में फिर से इस नर्तकी की असल मूर्ति के दर्शन हुए और झट यह विचार आया कि आज की नृत्य-कला कभी इस देवी के ऋण से उऋण नहीं हो सकती। जैसे यह मूर्ति मुझ से बातें कर रही हो और मुझे अतीत का हाल सुना रही हो। यह बात मैं इस नर्तकी के हृदय की थाह लेकर लिख रहा हूं।

मोएंजोदड़ो में कैसे-कैसे नृत्य प्रचलित थे? अवश्य ही वे गीत, जो इन नृत्यों में गाये जाते होंगे, उस जीवन की समूची संस्कृति और जीवन के प्रवाह के प्रतीक रहे होंगे। कहते हैं जीवन में जिसे कुरूपता का नाम दिया जाता है कला के माध्यम से गुजरने पर भी वही अगाध सुन्दरता की वस्तु बन जाती है। यहां मुझे जगत्-विख्यात हबशन के बस्ट का ध्यान आ रहा है। इसे कुरूप कहने का साहस किसमें होगा? समस्त हब्शी जाति की आत्मा अपने अतीत के ध्यान में मग्न नज़र आती है। मोएंजोदड़ो की नर्तकी भी कदाचित् किसी विस्मृत मुद्रा अथवा अंग-संचालन का स्मरण कर रही है। मोएंजोदड़ो में अप्सराएं भी होंगी और कुरूपाएं भी; युवकों में छैल-छबीले भी होंगे और कुरूप

माताओं के कुरूप लाल भी। किन्तु रंगभूमि पर रूप और कुरूप में एक-स्वरता उत्पन्न हो जाती होगी।

मेरे पास आधुनिक कलाकार परितोष सेन का बनाया हुआ एक चित्र है, जिसमें उरांव युवतियां अपने कबीले के पुरातन नाच का प्रदर्शन कर रही हैं। कलाकार ने रंगभूमि के कण-कण में गति का संचार कर दिया है। उरांव-युवतियों की पंक्ति दूर तक प्रविष्ट भूमि में अदृष्ट होती दिखाई गई है। इस सिरे पर युवतियों के पीछे मृदंग बजाने वाला युवक तन्मय अवस्था में नृत्य के ताल पर थाप दिये जा रहा है। कलाकार ने न युवतियों के शारीरिक सौंदर्य को कामलिप्सा के धरातल तक उभारने की चेष्टा की है, न मृदंग बजाने वाले की आँखों में इस लिप्सा की कोई प्रतिछाया स्थान पा सकी है। नृत्य में सब कुछ खोया हुआ सा प्रतीत होता है। युवतियां भी अन्तर्ध्यान हैं और मृदंग बजाने वाला भी किसी अवधूत की तरह इहलोक से दूर, बहुत दूर, दृष्टि लगाए हुए नज़र आता है। यद्यपि उसके उठे हुए दाएं हाथ को देखकर झट यह कहने को जी होता है कि वह अभी इसी जगत की रंगभूमि पर खड़ा है। इन उरांव युवतियों में मैं मोएंजोदड़ो की नर्तकी की तलाश करने लगता हूं। फिर ध्यान आता है, कि मोएंजोदड़ो युग के नृत्यों का संचालन भी मृदंग बजाने वालों की सहायता से होता होगा।

देश के कोने-कोने में देखे हुए लोकनृत्य मेरी आँखों में फिर जाते हैं। विशेषतया भोजपुरी झूमर तो मेरे अनुभव में चिर-परिचित सी वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि एक विशुद्ध सौंदर्यबोध के प्रतीक के रूप में, प्रतिबिम्बित होता है। और इस समय एक झूमर-गीत भी मेरे मानस में गूंज उठा है—

काहे मन मारी खड़ी गोरी अङ्गना
धरती के लहंगा बादरी के चोली
जोन्हीं के बटम कसबी दोनों जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अङ्गना
रूपे के बाजूबन सोने के कंगना
रेशम की चोली ढकबी दोनों जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अङ्गना
टुटी जइहें बाजूबन फूटी जइहें कंगना
फाटी जइहें चोली लटकि जइहें जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अङ्गना

बनी जाई बाजूबन जुटी जाई कंगना
सीया जाई चोली उठाई देबों जोबना
काहे मन मारी खड़ी गोरी अङ्गना

झूमर की इस नर्तकी के जीवन की गतिविधि का ध्यान आते ही मोएं-जोदड़ो की नर्तकी का रूप अनायास ही आँखों में फिर जाता है। किसी-न-किसी नृत्य में तो उसने भी धरती का लहंगा और बादल की चोली पहनी होगी। उसने भी चांदनी के बटन लगाकर दोनों उरोजों को कसा होगा। उसने भी रूपे के बाजूबन्द और सोने के कंगन,पहने होंगे उसने भी रेशम की चोली से दोनों उरोज ढके होंगे। उसे भी कभी यह भय लगा होगा कि बाजूबन्द टूट जायंगे और कंगन फूट जायंगे, चोली फट जायगी और उरोज लटक जायंगे। और फिर यह ध्यान आते ही उसके हृदय में आशा का संचार होगया होगा कि बाजूबन्द फिर से बन जायंगे, कंगन भी जुड़ जायंगे, चोली फिर से सिल जायगी और उरोज फिर से ऊपर उठाये जा सकेंगे। झूमर का गीत केवल सूत्रपात करके ही पीछे नहीं हट जाता। कविता से कहीं अधिक इस गीत में एक सजीव चित्र उपस्थित किया गया है।

आधुनिक सभ्यता में पली हुई युवतियों के केश-विन्यास और वेशभूषा देखकर कभी-कभी यह पूछने का विचार आता है कि अपनी समस्त परम्परा को उच्छिन्न करना, अपने अतीत से यों कट जाना कहां तक युक्तिसंगत है। मोएंजोदड़ो की नर्तकी की जड़ें तो यहां की धरती में रही होंगी और धरती का लहंगा और बादल की चोली पहनने वाली झूमर की गोरी ने भी अपनी मातृ-भूमि की लोक-कला का अमृत दुह कर पिया है यह झट विश्वास आजाता है।

सोचता हूं मोएंजोदड़ो युगमें स्त्री और पुरुष के सामीप्यमें कोई ग्लानि नहीं दिखाई देती होगी। वही संस्कृति विशेषतया इस देश की आदि निवासी जातियों में, आज तक स्थिर है। यही कारण है कि उरांव लोकनृत्य के चित्र में तनिक भी उच्छृखलता नज़र नहीं आती। ग्रामों में सर्वत्र स्त्री और पुरुष की स्वाभाविक आत्मीयता की भूमि पर लोक-कला का विकास हुआ है। परन्तु आधुनिक सभ्यता की बात दूसरी है क्योंकि यह स्त्री को सबसे पहला पाठ यही पढ़ाती है कि वह अपने केशविन्यास और वेशभूषा से पुरुष के हृदय में एक रहस्य की गुदगुदी उत्पन्न कर दे। किन्तु लोक-जीवन और लोक-कला में स्त्री को अपना रूप विज्ञापित करने पर बाध्य नहीं किया जाता।

लोक-कला की अपनी एक विशेष महत्ता है। वह अपनी ही शक्ति से फूली-फली है। जिसे लोक-जीवन प्रकट नहीं कर पाता उसे लोक-कला प्रकट करने में झट सफल हो जाती है। शैलज मुखर्जी द्वारा पुनः चित्रित भारतीय लोक-कला के कुछ विशिष्ट नमूने देखकर यह बात मैंने बड़ी तीव्रता से अनुभव की। ये चित्र लोक-कला की मौलिक शैलियों के प्रतीक हैं। शैलज की कुशलता इसीमें है कि उसने लोक-कला के श्रेष्ठ धातु में आधुनिक कला की तनिक भी मिलावट नहीं की। इनमें दो-एक नारी-चित्रों के रंग देखकर अनायास ही एक बंगला लोक-गीत की टेक याद आने लगती है।

तोमाय विदेशिनी साजिये दिले ?

—'तुम्हें विदेशनीय के वेश में किसने सजा दिया ?'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस गीत के सम्बन्ध में लिखा है : "उस गान का सिर्फ वह एक ही पद मन में एक अपूर्व चित्र चित्रित कर गया था कि आज भी वह लाइन गूंज रही है। एक दिन उसी पद के मोह में मैं भी एक गान लिखने बैठा था। स्वर की गुंजार के साथ-साथ पहली लाइन इस प्रकार लिखी—

आमि चिनि गोचिनी तो मारे ओगो विदेशिनी

'ऐ विदेशिनी, मैं तुम्हें पहचानता हूँ, पहचानता हूँ।' यदि उस गान के साथ सुर न होता तो उस गान का क्या प्रभाव होता, नहीं कह सकता। किंतु सुर के जादू से विदेशिनी की एक अपूर्व मूर्त्ति मन में जाग उठी। मेरा मन कहने लगा, हमारी इस दुनिया में एक विदेशिनी नित्य आया-जाया करती है—न जाने किस रहस्य सिंधु के उस पार वाले घाट पर उसका घर है—उसे ही शरद् ऋतुकाल में और माधवी रात्रि में प्रतिक्षण देख पाता हूँ—बीच-बीच में हृदय के भीतर ही उसका आभास पाया जाता है और कभी-कभी आकाश में करनपात कर उसका कंठ स्वर सुनाई देता है।"

यहां एक और बात स्पष्ट हो जाती है। लोक-कला एक विश्व-कवि को भी प्रेरणा दे सकती है। उपर्युक्त लेख में रवीन्द्रनाथ ने बोलपुर के रास्ते में किसी बाउल के मुख से सुने हुए एक बंगला गान का जिक्र किया है—

खांचार मांझे अचिन पाखि केमने आसे पाये
धरते पारले मनो बेड़ी दितेम पाखिर पाये

—'पिंजड़े में अनचीन्हा पंछी कैसे आता-जाता है।
मैं इसे पकड़ सकता तो पंछी के पांव में मन की बेड़ी डाल देता।'

विश्व-कवि ने लिखा—"देखा, बाउल का गान भी ठीक वही बात कह रहा है। बीच-बीच में बधे पिंजड़े में आकर अनचीन्ही चिड़िया बन्धनहीन और अपरिचित की बात कह जाती है— मन उसे पकड़ कर चिरन्तक बना कर रखना चाहता है, किन्तु कर नहीं पाता। इस अपिरिचित पत्ती के निःशब्द आवागमन की खबर गान के सुर के सिवाय कौन दे सकता है ?"

जामिनीराय की आधुनिक चित्रकला बंगाल की लोक-कला की ऋणी है। इन्हें देखते हुए अनायास ही उन गीतोंका स्मरण हो आता है जिनकी रचना रवीन्द्रनाथ ने बाउल तथा बंगला लोक-गीतों की प्रेरणा से की थी। जामिनीराय की ऊँचे दर्जे की प्रतिभा कहीं भी लोक-कला के नीचे दब नहीं जाती। इस युग में यह बड़ी हिम्मत है कि उन्होंने अपने मस्तिष्क की कल्पना तथा उँगलियों के कौशल को अपनी धरती के इतना निकट रखने में अद्वितीय सफलता पाई है। उनका रेखांकन और रंग-विधान एकदम जहां उनकी कला को लोक-कला के धरातल पर उतारता है वहां कलाकार की निर्भयता की ओर भी संकेत करता है। उन्होंने अपनी कठिनाइयों का हल लोक-कला की सहायता से किया है। मातृभूमि का रंग और प्रकाश से भरा वातावरण बार-बार उनके चित्रों में जाग्रत हो उठता है।

लोक-कला की प्रारब्ध धरती से जुड़ी हुई है यह लोकगीत हो अथवा लोक-नृत्य, लोक-कहानी हो अथवा लोकनाटक, लोक परम्परागत मूर्त्तिकला अथवा चित्रकला, इनकी रूपरेखा से धरती की सुगन्ध आयगी। यही कारण है कि लोक-कला प्रांतीय अथवा एकदेशीय न होकर सदा विश्वव्यापी वस्तु के रूप में जीवित रहती है।

चार

भारतमाता ग्रामवासिनी

'तोया दारे' अर्थात् दूध का वृक्ष, यह माता का चित्र है जिस पर संथाल संस्कृतिको गर्व है। संथाल लोकगीतोंमें इस वृक्षको विविध रंगोंमें चित्रित किया गया है। इस वृक्ष का दूध कभी नहीं सूख सकता। मैंने इस वृक्ष को समीप से देखा है। कभी आंखों-ही-आंखों में—प्रेम की मूक भाषा की सहायता से—और कभी दुभाषिये के माध्यम द्वारा मैंने इस वृक्ष से वार्तालाप किया है। उस समय यह वृक्ष ऊँचा सा उठता नज़र आता था, और मैं मन ही मन में कह उठता था—हे दूध के वृक्ष, तुझे शत-शत प्रणाम, तेरा सहस्र-सहस्र अभिनन्दन।

संथाल जनपद्की जीवन पद्धति के लिए यह 'दूध का वृक्ष' उसी प्रकार हितकर है जैसे इस विशाल देश के अनेक जनपदो में। सचमुच प्रत्येक जनपद का मातृरूप ही सबसे पहले हमें अपनी ओर आकर्षित करता है। सुदूर ग्रामों में फैले हुए जनपद इसी दूध के वृक्ष की छाया में विश्राम करते नज़र आयंगे। यह वृक्ष प्रकृतिका वरदान है। लोक संस्कृति सदा इस वृक्षका अभिनन्दन करती आई है। वाणी का सत्य इसीसे शक्ति प्राप्त करता है। कर्म का सत्य इसी पर आश्रित रहता है। मिश्र देश की एक लोकोक्ति है—'भगवान् के लिए सर्व-व्यापक होना असम्भव था; अतः उन्होंने माता को भेज दिया।' माता सर्व-व्यापक है। एक संथाल जनपद ही में क्यों! प्रत्येक जनपद में मानव उसी की कोख से जन्म लेता है, उसी का दूध पीकर बल प्राप्त करता है। प्रत्येक जनपद के तोरण द्वार पर माता की भुजाएं नवागत के स्वागत में फैलने लगती हैं। उस समय विश्व कल्याण की भावना स्वतः स्फुरित होने लगती है। माता के मुख पर मुसकान देख कर पुत्रों का जीवन धन्य हो उठता है। हरिद्वार में जहां हिमालय का सर्व सुलभ रूप हमारे सम्मुख उपस्थित नज़र आता है, समतल की ओर बढ़ती सर्वलोक नमस्कृता गंगा अपने मातृरूप को दर्शाने से नहीं चूकती। माता एक है, परन्तु उसके रूप अनेक हैं। कदाचित् यहां भी संथाल संस्कृति के प्रतीक 'तोयादारे' अथवा दूध के वृक्ष से इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। गंगा मैया की जयकार

मुखरित करने वालों से कोई इतना तो कह सकता है कि वह जल नहीं दूध है । यही मातृरूप की महत्ता है । माता का किसी से विरोध नहीं । पुत्रों के बीच स्पर्धा की आशंका से माता का हृदय अवश्य कांप उठता होगा ।

मातृभूमि पर अनेक जनपद बसे हुए हैं । परन्तु उनकी अनेकता में एकता का वरदान कभी अदृष्ट नहीं होता । भाषा और जीवन की विविधता इस एकता की विजय को छिपा कर नहीं रख सकती । समन्वय, सहिष्णुता और सहानुभूति—इन पर माता की छाप अवश्य है । जीवन विधिके साथ साथ बहुरंगी भाषाओं में सख्य भाव की कभी कमी नहीं रही । शत शत शताब्दियों से शब्दों का आदान-प्रदान होता आया है । एक जैसे स्वर ताल अनेक जनपदों को माला के मनकों की भांति पिरोते चले आये हैं । एक जैसे सूत्र विभिन्न जनपदों के वाङ्मयमें समझौते का मन्त्र फूंकते रहे हैं । इस एकता को शतशत प्रणाम । इसका सहस्र-सहस्र अभिनन्दन ।

किन्तु कभी जन्मभूमि के मातृरूप पर निराशा और वेदना भी छा जाती है । इतिहास में ऐसे अनेक क्षणों की विवाद-पूर्ण गाथा सुरक्षित है । संथाल संस्कृति के अनुरूप यह कहना होगा कि ऐसे क्षणों पर 'तोया दारे'का दूध सूखने लगता है । और आधुनिक कवि भी उदासिनी माता का चित्र अंकित करते समय तूलिका के शीघ्रगामी स्पर्शों से हल्के गहरे रंग लथेड़ते हुए कह उठता है ।

भारतमाता
ग्रामवासिनी ।

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आंचल,
गंगा यमुना में आंसू-जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।
तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़ असभ्य, अशिक्षित निर्धन,
नतमस्तक
तरुतल निवासिनी ।

स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कम्पित अधर मौन स्मित
राहु ग्रसित
शरदेंदुहासिनी।'

माता का यह चित्र अत्यन्त विषादपूर्ण है। हमें संतोष होना चाहिये कि इतिहास का चितेरा आज एक दूसरा चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहा है। धूल भरे मैले से अँचल के स्थान पर बहुत शीघ्र माता का निर्मल तथा नयनाभिराम आंचल खेतों में फैला हुआ नजर आने लगेगा। अब गंगा यमुना में आंसू-जल नहीं गिरेगा। मिट्टी की प्रतिमा फिर से स्वर्ण में ढल जायगी। उदासिनी माता फिर से सुहासिनी का रूप धारण करेगी। माता के पुत्र अब अर्ध-क्षुधित नहीं रहेंगे, न शोषित,न निरस्त्र, न नग्न तन,न मूढ़, न अशिक्षित। और स्वयं माता भी नतमस्तक तरुतल निवासिनी के रूप में नज़र आने पर मजबूर न होगी। जन्मभूमि का स्वर्ण शस्य अब पर-पद तल लुंठित नहीं होगा, न धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित नज़र आयगा। राहु दूर हट रहा है। माता का क्रंदन 'कंपित अधर मौन स्मित' रूप भी बदल कर रहेगा। वही शरदेंदुहासिनी माता फिर से हमारे सम्मुख संकृति के तोरण द्वार पर खड़ी नज़र आयगी। अब कोई संथाल भी यह नहीं कहेगा कि 'तोया दारे' का दूध सूख रहा है।

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्द मेरे कानों में गूंज उठते हैं—'पृथ्वी की गोद से जिसने जन्म लिया है उसी से हमारा बन्धुत्व का नाता है। पर्वत और अरण्य समतल भूमियां और समुद्र निरन्तर बहने वाली जल धाराएं और जलपूर्ण स्रोत, नाना प्रकार की वीर्यवती औषधियां, वृक्ष और वनस्पति, पृथ्वी के गर्भसंचित स्वर्ण और मणिरत्न, शिलायें और भांति-भांति की मृत्तिकायें, सुनसान जंगलों में मंगल करने वाले सिंह, व्याघ्र आदि पशु एवं आकाश में गरुड़ की शक्ति से झपटने वाले नभचर पक्षी ये सब मातृभूमि के पुत्र हैं। मातृभूमि के परिचय में इन सबका परिचय अंतर्हित है। राष्ट्रीय नवोदय के समय इन सबके साथ हमें नूतन परिचय प्राप्त करना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण ने कहा है कि राजसूय यज्ञ के समय राजा एक सभा करता था जिसे पारिप्लव आख्यान कहते थे। इसका सत्र कई दिनों तक रहता था और इसके अंतर्गत नाना विद्याओं और शास्त्रों में पारंगत विद्वान एकत्र होकर राजा को

राष्ट्र के साथ भूतों से और संस्कृति से परिचित कराते थे। 'भूतानि आचक्ष्व' के आमंत्रण से सभा का कार्य आरम्भ होता था। इस सभा के नवें दिन पक्षी विशेषज्ञ (वायोविद्यक) देश के पक्षियों से राजा को परिचय देते थे। समस्त राष्ट्र की रक्षा के लिए जिस राजा का अभिषेक हुआ उस पर सबका अधिकार है। उसे सबका कुशल प्रश्न पूछना चाहिये। मूर्धाभिषिक्त राजाओं के युग तो अब चले गए। उनका राजनैतिक ऐश्वर्य (सॉवरिनटी) प्रजाओं में अवतीर्ण हुआ है, और प्रजाओं के द्वारा नेताओं में प्रकट होता है। प्रजा और नेता ही राष्ट्रीय मंगल के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसे समय यह और भी आवश्यक है कि पृथ्वी की भूत-सम्पत्ति, जन-समृद्धि और ज्ञान संस्कृति को आद्योपान्त जानने का हम बहुत बड़ा प्रयास करेंगे। इसीके द्वारा हम सच्चा स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा अपने ही देश में हम अजनबी बन कर रहेंगे।''

हमारा यह यत्न होना चाहिए कि देश का एक-एक जनपद और एक-एक ग्राम सम्पन्न होता चला जाय। केवल गिने-चुने नगरों का राष्ट्रीय नवोदय ही यथेष्ट नहीं हो सकता। पग-पग पर जीवनकी नई चेतना प्रकट होनी चाहिए। सर्वत्र नव विधान अकुरों को स्थान मिले। उर्वरा भूमि का भाग्य बढ़े। प्रत्येक वर्ग देश के उत्थान में बराबर का हिस्सेदार हो, और प्राचीन मन्त्र के शब्दों में कह सके—

वर्षोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः

—'बराबरी वालों में मेरा ऊँचा स्थान है, जैसे उदित होने वाले नक्षत्रादिक में सूर्य है।

संस्कृति की ऊँची आसन्दी पर बैठने का एक-एक ग्राम को समान अधिकार होना चाहिए। एक-एक वर्ग को जीवन की अखंड एकता पर गर्व होना चाहिए। इसी एकता में माता का आनन्द निहित है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नवयुग में यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक रचनात्मक कार्य पर सामूहिक पराक्रम तथा चेतना की छाप नज़र आए। सुशांत और प्रीति सम्पन्न जीवन, यही हमारी संस्कृति का आदर्श है। युद्ध की आवश्यकता ही न पड़े, द्वेष और हिंसा के लिए जीवन में स्थान ही न रह जाय, यही हमारी संस्कृति की पुकार है। ज्ञान बढ़े, साहस की वृद्धि हो। निर्दय पशु की भांति मानव एक दूसरे का भक्षक न बने। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में एक मार्मिक चुनौती निहित है—"जल, थल, वायु, विद्युत सभी पर मनुष्य ने विजय पा

ली है। पर प्रकृति को जीतने की धुन में मनुष्य अपने को वश में करना भूल गया है। और सबसे जीत गया है, पर अपने आप से हार गया है। इसके कारण बुद्धि और परिश्रम से पाये हुए हमारे सारे वरदान झूठे हो गये हैं। इसके लिए मनुष्य के मन की चिकित्सा आवश्यक है।"

माता अपने शांतिवादी पुत्रों को आशीर्वाद देती है, भले ही वे संख्या में कम हों। आज माता की सबसे बड़ी इच्छा यही है कि उसकी सन्तान वाणी के सत्य के अतिरिक्त कर्म के सत्य को भी अपनाये।

सरोजिनी नायडू की कई वर्ष पूर्व लिखी हुई कविता, 'ओ भारत मां' आज के राष्ट्रीय नवोदय के समय एक नये ही अर्थ से पूर्ण प्रतीत होती है—

—'अनगिनत सदियां बीतीं, तुम स्वर यौवनमयि !
ओ मां, जागो फिर से जागो, उदासीनता त्यागो।
ओ लोक-परिणीते वधुके, करो प्रसव अयि,
अजर अमर कुल से पुनः नव-वैभव युग-शिशु जागो !
जो देश पड़े हैं रोते बद्ध तिमिर में सोते,
तुझ पर अटकाये हैं अपनी प्रकाश की आशा।
तुम क्यों हो सुषुप्त ओ जननी नीरव अश्रु-पिरोते।
अपने बच्चों की खातिर तो जागो, दो न दिलासा।
आज पुकार रही नानाध्वनियों से तुझको भावी,
नव ऐश्वर्य, नवीन ज्योति, नव विजयों की व्यापकता
फिर से राजमुकुट पहनो तुम ओ अतीत साम्राज्ञी
ओ अधसोई मां तू जाग, ग्रहण कर गौरव सत्ता।'

माता का वास्तविक नवरूप देखने के लिए हमारी निगाह लोक-कला पर अवश्य पड़नी चाहिये। गीत हो अथवा नृत्य, कथा हो अथवा कोई साधारण लोकोक्ति, चित्र हो अथवा साधारण मूर्ति—सर्वत्र माता की आकृति ही थोड़े-बहुत भेद के साथ चित्रित हुई है। हे लोककला, तुझे शतशत प्रणाम, तुम्हारा सहस्र-सहस्र अभिनन्दन।

मालवा जनपद की पृथ्वी का चित्र एक भील लोकोक्ति में इस प्रकार अंकित किया गया है—'जहां बिना पीवत के गेहूं की उपज होती है वहीं मालवा है।' दूर-दूर तक निगाह डालिये, श्याम वर्ण की मिट्टी फैली हुई नज़र आयगी। यह काली मिट्टी कपास के लिए प्रसिद्ध है, क्योंकि उर्वरता की दृष्टि से यह अनेक मिट्टियों को पीछे छोड़ जाती है। किसी भूगर्भवेत्ता से पूछ

देखिये, वह बतायेगा कि इस मिट्टी के नीचे रेत की चट्टानें हैं, क्योंकि यह मिट्टी ज्वालामुखी पर्वत के लावा से बनी है। यह मिट्टी जलवृष्टि से फूलती है और अधिक काल तक पानी की नमी या तरी अपना सकती है। जिस गेहूं की ओर भील लोकोक्ति में निर्देश किया है, विश्व में द्वितीय श्रेणी का माना जाता है। कहते हैं कि इसी जनपद को लक्ष्य करके कबीर कह उठा था—'पग-पग रोटी डग-डग नीर।' इस जनपद की समशीतोष्ण जलवायु, तथा विशेष रूप से ग्रीष्म ऋतु में दिन में गर्मी और रात्रि को शीतल वायु के कारण ठंडक का अनुभव करते हुए बाबर ने 'शबे मालवा' की भरपूर प्रशंसा की थी।

इसी मालवा जनपद का एक भील लोकगीत, जिसका हिन्दी पद्यानुवाद एक भील युवक श्री फूल जी मीणा द्वारा प्रस्तुत किया गया है, न केवल इस जनपद की पुरातन संस्कृति की ओर संकेत करता है, बल्कि जन्मभूमि की देश-व्यापी संस्कृति की एकता को सिद्ध करने में समर्थ हुआ है। क्योंकि ऐसे पात्रों की ग्रामों में आज भी कुछ कमी नहीं है। यह लोकगीत जन्मभूमि की लोक-कला का एक चिर अभिनन्दनीय उदाहरण है—

—'कलासिये के मारग में पड़ती है सोमनदी
भीलजनों में माता कहलाती है सोमनदी
गौना लेकर श्वसुरालय से भील तेजिया चला,
कह रहे गृहजन भय से—आज ही मत जा
बड़े सवेरे प्रभात जब पीली न पड़ी थी
सहलज बैठी रोटी करने, पहिली टूटी।
असुगन हुआ, मना करते हैं सब घर वाले
बहनोई जी आज रात ही क्यों जाते हो?
सुसरा कहे—जमाई, ठहरो आज रात को
साली कहें—हमें हल्दी का खेत नीदना
सासू कहे—हमें मिर्ची का खेत नीदना।
सारा घर करता रहा मना
पर भील तेजिया नहीं माना,
पीली नहीं हुई थी प्रातः चला बहू ले
विदा समय वे गले लगीं, बाहों में झूले
मां-बेटी, बहिनें, सहेलियां रोतं रोते
कहती हैं—तुम बहन, भली लौटोगी कब री

बहनोई चल पड़ा
जा लगे सोम किनारे
सोम नदी भरपूर बह रही
बोला मुझे पोटली दे दे,
खुद उतरा पानी में, उसको नहीं उतारा
वह भीलणी चली उसके ही पीछे दुस्तर धारा
छाती तक पानी चढ़ आया
और भीलणी ने दोनों हाथों से उसको आ पकड़ा
दोनों डूब गये; बह गये, सोम में
गीत रुका है यहां क्योंकि…'

धन्य हैं तेरे पुत्र, धन्य हैं तेरी पुत्रियां, ओ ग्रामवासिनी भारतमाता ! तुझे शत-शत प्रणाम, तुम्हारा सहस्र-सहस्र अभिनन्दन । आज उच्च स्वरसे सुदूर ग्रामों तक अपनी वाणी पहुँचा दो । यह सौभाग्यकी वेला है । आज दो सौ वर्ष पश्चात् तुम परतंत्रता के बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता का आवाहन कर रही हो । जी भर देखले, ओ इतिहास लेखक, ओ कलाकार, ओ कवि, ओ गायक, ओ आलोचक……।

पाँच

उर्मिला का आँध्र लोकगीत

: १ :

वही सीता की बहन, लछमण की पत्नी, उर्मिला अपराधिनी-सी खड़ी है—रामायण के एक कोने में। वाल्मीकि ने उसे अपनाया नहीं, वरदान देना तो दूर रहा। न जाने कितनी स्मृतियां सोई हैं इस उपेक्षिता की पलकों में! उड़ते मेघों-से उसके स्वप्न अमर रहने की ठान चुके हैं। उसकी कहानी एक करुण कविता ही तो है!

यह देखिए, भवभूति अपनी अमर रचना लिये हाज़िर हैं। 'रस एक ही है, और वह है करुण' यह उनका आदर्श है। 'उत्तररामचरित' का पहला अंक है। लो, लछमण आगए;वह राम से कह रहे हैं कि चित्रकारने निर्देशके अनुसार उनका चरित चित्र-वीथिका में चित्रित कर दिया है। 'आओ आर्य, उन चित्रों को देखो!' राम और सीता चित्र देख रहे हैं। लछमण अर्वाचीन 'क्यूरेटर' की भाँति चित्रों का परिचय दे रहे जा रहे हैं। सीता को संबोधन करके वह कह रहे हैं—'इयमार्या' (यह आर्य हैं); 'इयमार्या मांडवी' (यह आर्या मांडवी हैं); 'इयमपि वधूः श्रुतकीर्तिः' (यह वधू श्रुतकीर्ति भी है)। लो अब एक चित्र की ओर संकेत करती स्वयं सीता पूछ रही हैं—'वत्स इयमप्यपराका'(वत्स,यह और कौन हैं ?) इस पर लछमण लजा गए हैं। उनके हृदय में जो एक लहर-सी उठ खड़ी होती है,वह कितनी मार्मिक है-'अये ऊर्मिलां पृच्छत्यार्या भवतु। अन्यतः संचारयामि' (अहो! उर्मिला को सीता जी पूछ रही हैं। तो दूसरी वस्तु इन्हें दिखाऊं)। मन में यह भाव है। लो, वह चित्र में परशुराम दिखला रहे हैं।

क्या राम और सीता संबंधी कहानियों में, जो रामायण की रचना के पूर्व लोकगीतों में गाई जा रही थीं,उर्मिला को कोई स्थान नहीं मिला था ? क्या लोक-मानस ने भी उर्मिला का व्यक्तित्व नहीं पहचाना था ? उर्मिला की चौदह वर्ष लंबी भावना-वेदना क्या किसी एक भी गीतमें मूर्तिमान नहीं हो पाई थी ? करुण रस से अभिसिक्त, उर्मिला का हृदय अवश्य बरसा होगा। स्त्री-गीतों

में उसे अवश्य निष्ठावती के रूप में गाया गया होगा। उसकी विरह-वार्ता को कुछ एक ध्वनियों का सहारा भी न मिला होगा क्या? दो-चार टिकाऊ गीत तो उसके सम्बंध में बने ही होंगे। पर उनका क्या हुआ?

उर्मिला-सम्बंधी रवींद्रनाथ ठाकुर के विचार अत्यन्त मार्मिक तथा जागरूक हैं—

"कवि ने अपने कल्पना-निर्झर का जितना करुण जल है, वह सब केवल जनकनंदिनी के पुण्याभिषेक में ही समाप्त,कर दिया है। किन्तु एक ओर जो म्लानमुखी तथा संसार के सारे सुखों से वंचित राजवधू सीता के पास घूँघट डाले खड़ी हुई है, उसके चिर संतप्त नम्र ललाट पर न जाने कवि के कमंडल से एक बूंद भी अभिषेक का जल क्यों नहीं पड़ा! हाय अव्यक्त-वेदना की देवी उर्मिला, प्रातःकालीन तारा की भांति महाकाव्य के सुमेरु शिखर पर एक बार तुम्हारा उदय हुआ था। उसके बाद अरुणालोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए! कहां तुम्हारा उदयाचल है और कहां अस्ताचल, यह प्रश्न करना भी सब लोग भूल ही गए।

"काव्य-संसारमें ऐसी दो-चार स्त्रियां है जिनकी कवियोंने अत्यन्त उपेक्षा कर दी है, पर ये अमरलोक से भ्रष्ट नहीं हुई हैं। पक्षपात-कृपण काव्यों ने उनके लिए स्थान-दान में संकोच किया है,इसीसे पाठकों के हृदय अग्रसर होकर आसन बिछा देते हैं।

"किन्तु इन कवि-परित्यक्ता ललनाओं में से किसको कौन अपने हृदय में आसन देगा, यह भिन्न-भिन्न पाठकों की प्रकृति और अभिरुचि पर निर्भर है। हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में काव्य-यज्ञशाला की प्रांत-भूमि में जो दो-चार अनादृत होकर खड़ी हैं, उनमें उर्मिला का ही प्रधान स्थान है।

"हो सकता है, इसका एक मुख्य कारण यह हो कि संस्कृत साहित्य में ऐसा मधुर नाम कोई दूसरा नहीं है। नामको जो लोग केवल नाममात्र मानते हैं, उनके दल में मैं शामिल नहीं हूं। शेक्सपियर कह गए हैं कि गुलाब का भले ही कोई दूसरा नाम रख लिया जाय, पर उसके माधुर्य का तारतम्य नहीं हो सकता। गुलाब के सम्बंध में,हो सकता है,यह बात संघटित हो भी सके;क्योंकि गुलाब का माधुर्य संकीर्ण और सीमाबद्ध है। वह केवल कुछ स्पष्ट तथा प्रत्यक्षगम्य गुणोंके ऊपर अवलंबित है। किन्तु मनुष्योंका माधुर्य सर्वांश में ऐसा सुगोचर नहीं है। इनमें से अनेक हैं जो सूक्ष्म सुकुमार भाव से अनिर्वचनीयता का उद्रेक करते हैं। वह केवल हमारी इंद्रियों द्वारा गोचर नहीं है, उसकी

सृष्टि कल्पना द्वारा होती है। नाम उस सृष्टिकार्यमें सहायता करते हैं। खयाल कीजिए कि यदि द्रौपदीका नाम उर्मिला रख दिया जाता, तो उस पंचवीरगर्बिता क्षत्रिय नारीका दीप्त तेज इस तरुण कोमल नामसे पद-पदपर खंडित होता रहता।

"अतएव इस नाम के लिए हम वाल्मीकि के कृतज्ञ हैं। कवि-गुरु वाल्मीकने उर्मिलाके प्रति अनेक अविचारके काम किये हैं किन्तु भाग्यसे ही इस का नाम मांडवी अथवा श्रुतकीर्ति नहीं रखा। मांडवी और श्रुतकीर्ति के संबन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते, और हमें जाननेका विशेष कुतूहल भी नहीं होता।

"हमने जनकपुर की विवाह-सभा में केवल वधूवेश में उर्मिला को देखा है। उसके बाद जब से वह रघुकुल के विशाल अन्तःपुर में पैठी, तब से एक बार भी उसके दर्शन नही किए। वही विवाह-सभा वाली वधूवेश की मूर्ति ही हमारे हृदय में अंकित हो गई। उर्मिला निर्वाक्, कुंठित और निःशब्द-चारिणी होकर वधू की वधू ही रह गई। भवभूति के काव्य में भी उसकी वही मूर्ति कुछ काल के लिए झलक गई थी।...रामचन्द्र की इतनी विचित्र सुख-दुःख की चित्रावली में फिर कभी किसी की कुतूहल की उँगली इस मूर्ति के ऊपर नहीं पड़ी। वह तो थी वधू उर्मिला मात्र।

"जिस दिन उर्मिला ने अपने उज्वल ललाट में सिंदूरबिंदु धारण किया था, वह उसी दिन की नववधू सदा बनी रही। किंतु जिस दिन रामराज्याभिषेक के मंगलसाधनों का आयोजन करने में अंतःपुरवासिनी ललनाएं लगी हुई थीं, उस दिन वह नववधू क्या अपना घूँघट ऊपर उठाकर रघुकुल की लक्ष्मियों के साथ प्रसन्न मुख से मंगलरचना में अस्तव्यस्त नहीं थी? और जिस दिन अयोध्या में अंधेरा करके दोनों राजकिशोर सीता को साथ लेकर तपस्वियों-सा वेश बनाए बनवास के लिए बाहर हुए, उस दिन वधू राज-प्रासाद के किस एकांत कक्ष में वृंतच्युत कुसुमकलिका की भांति धूल में लोट रही थी, यह क्या कोई जानता है? उस दिन के उस विश्व-व्यापी विलाप के भीतर इस विदीर्यमाण, क्षुद्र तथा कोमल हृदय के असह्य शोक को किसने देखा था? जो ऋषि-कवि क्रौंचविरहिणी के वैधव्य दुःख को क्षण भर भी नहीं सह सके, उन्होंने भी उसकी ओर एक आंख नहीं उठाई।

"लक्ष्मण ने राम के लिए अपना अस्तित्व खो दिया था। यह गौरव कथा आज भी भारत में घर-घर कही जाती है किन्तु सीता के लिए उर्मिला का अपना अस्तित्व खोना संसार में ही नहीं, काव्य में भी घोषित हो रहा है। लक्ष्मण ने अपने दोनों देवताओं—सीता और राम, के लिए अपने को

उत्सर्ग कर दिया था और उर्मिला ने अपनी अपेक्षा अधिक अपने स्वामी को दान कर दिया था। यह कथा काव्य में लिखी नहीं गई। सीता के आंसुओं से उर्मिला एक दम बह गई।

"लक्ष्मण ने तो बारह वर्ष अपने उपास्य प्रियजनों के प्रिय कार्य करने में बिताए, पर नारी-जीवन के ये श्रेष्ठ बारहों वर्ष उर्मिला ने कैसे बिताए? सलज्ज, नवप्रेमामोदित और विकासोन्मुख हृदयमुकुल लेकर जब स्वामी के साथ प्रथमतम तथा मधुरतम परिचय आरंभ हुआ, तभी सीता देवी के अरुण-चरण-विक्षेप की ओर नम्र दृष्टि सलक्ष्य रखते हुए लक्ष्मण वन चले गए। जब वे फिरे तब वधू के चिरंतन प्रणयालोक-विरहित हृदय में क्या वह पहली नूतनता थी? पीछे सीता के साथ उर्मिला के दुःख की कोई तुलना करने लगे, इसीसे क्या कवि ने इस शोकोज्वला महादुःखिता को सीता के स्वर्ण-मन्दिर से बाहर कर दिया—जानकी के पादपीठ के पास भी उसे स्थान देने का साहस नहीं किया?"

: २ :

संसार की बहुत-सारी कविता विरह का गान है। अनगिनत हृदयों को लाँघता हुआ विरह का गान, स्थान-स्थान पर निमंत्रण पाता हुआ, अपनी तलाशमें अग्रसर होता रहता है। और जैसा कि एक अंग्रेज़ साहित्य-सेवीने कहा है—'एक-एक आदमी एक-एक विच्छिन्न द्वीप ही तो है;आदमी-आदमी के बीच में बेअंदाज़ नमकीन आँसुओं का सागर मौजूद है। दूर से जब एक दूसरे की ओर निहारता है,तो सोचता है,अहो हम तो एक ही बड़े मुल्कके निवासी हैं;बीच में समस्त रुदन किसीकी बददुआसे झाग बनकर उमड़ पड़ा है!' प्रत्येक देश में, एक-एक भाषा में, स्त्री और पुरुष अपने बीच में एक बेरोक खिंचाव महसूस करते जीवन की सड़क पर चले जा रहे हैं। कवि के शब्दों में, 'पक्षी-सी आँख देखने के लिए दौड़ती है'; फिर कभी-कभी एक हृदय दूसरे को पुकार-कर कहता है—'किसने निकाल बाहर किया मुझे तुम्हारे हृदय के भीतर से?' एक हृदय दूसरे हृदय का चित्र अपने भीतर की चित्रशाला में स्थापित करने का चिर अभ्यस्त है; पक्षी-सी उड़ती आँख अपनी प्रिय वस्तु का प्रतिरूप उतार लाती है। और यह प्रतिरूप असल वस्तु से भी प्रिय हो उठता है। स्त्री का हृदय पुरुष की मूर्ति को स्थापित कर एक अनुपम पूर्णता को प्राप्त करता है। और पुरुष भी, शायद, अपने शरीर से बढ़कर अपने हृदय को ही, जो प्रेयसी के भीतर बसता है, अपना सत्य रूप मानता है।

यह ठीक है कि लक्ष्मण चौदह साल उर्मिला से दूर रहे, पर उर्मिला के हृदय में उनकी जो मूर्ति बन गई थी उसे तो वह अपने साथ नहीं लेते गए थे। उनका यह प्रतिरूप उसे ज़िंदा रख सका था; बार-बार वह इस पर प्रेम का रंग मलती थी और हर बार वह यह देखकर हैरान रह जाती थी—यह कल्पना से परे की वस्तु नहीं, कि उसके आँसुओं ने सब रंग बहा डाला है। फिर भी वह एकदम उदासीन होगई थी, यह बात नहीं। प्रतिरूप में जान डालने की क्रिया ने ही उस चिर-विरहिणी को,एक तरह से,अपना दर्द भूल-भूल कर जीवित रह सकने में समर्थ किया था।

स्त्री और पुरुष के बीच का यह विरह कल्पना को नए-नए पंख दिया करता है। जीवन मरण की द्रुतगामिनी धारा में बहता हुआ मनुष्य इसी विरह का अमर इतिहास कहता जाता है। संसार की कविता,जहां देखो वहीं,आँसुओं से भीगी पड़ी है। सुख भी है, पर थोड़ा। देखे-अनदेखे दुःख के आँसू कितने बेअंदाज़ हैं! मिलन अति थोड़ा है,विरह एकदम विराट्। विरह का एकतारा तो बजेगा ही। मिलन लाख बार विरह की भाव-रचना का द्वार बंद करे, विरह की देववाणी तो बार-बार सिर उठायगी ही। विरह में ही प्रेम की शत-प्रतिशत सत्य उपलब्धि होती है, इसी अनुभूति को मनुष्य ने प्रत्येक देश में, प्रत्येक भाषा में, गाया है। "रास्ते के दोनों ओर प्रत्येक घर में", रवींद्रनाथ ठाकुर का अनुभव है, "बिलकुल तुच्छ लोगोंके छोटे-छोटे कार्योंके पीछे राम लक्ष्मण आकर खड़े रहते हैं। अंधकार भरे घर के अंदर पंचवटी की करुणा-मिश्रित हवा बहती है। ...मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को भावों की सत्ता के द्वारा अपने चारों ओर और भी बहुत दूर तक बढ़ाकर ले गया है। उसकी वर्षा के चारों ओर कितनी गानों की वर्षा; काव्यों की वर्षा, कितने मेघदूत और कितने विद्यापति विस्तीर्ण हो रहे हैं, अपने छोटे-से घर के सुख-दुःख को उसने कितने चंद्र-सूर्यवंशीय राजाओं की सुख-दुःखों की कहानी के अंदर बड़ा बना लिया है; उसकी लड़की के चारों तरफ पार्वती की करुणा सर्वदा संचारण करती रहती है;....इस प्रकार लगातार मनुष्य अपने चारों ओर जिस विस्तार की सृष्टि करता है। उसके द्वारा बाहर मानो अपने को स्वयं फैलाकर, अपने आपको स्वयं बढ़ाता जा रहा है। प्रत्येक मनुष्य के बीच में अनंत विरह है। हम लोग जिससे मिलना चाहते हैं, वह अपने मानस-सरोवर के अगम तीर पर निवास कर रहा है। वहां केवल कल्पना पहुँच सकती है। ....हे निर्जन गिरिशिखर के विरही, स्वप्न में जिसको आलिंगन करते हो, मेघ द्वारा

जिसे संवाद भेजते हो, उससे तुम्हारा संगम शारदीय पूर्णिमा की रात में होगा—ऐसा आश्वासन तुम्हें किसने दिया ? तुम्हें चेतनाचेत का कुछ ज्ञान नहीं है। हो सकता है कि सत्य और कल्पना का भेद भी भूल गए हो ।"

एक विरहिणी विलाप ही करे, यह ज़रूरी नहीं है। हो सकता है वह अपने ग़म को अंदर ही अंदर पी जाय, यह समझ कर कि रोने से भी आखिर कौन उसके मर्म को देखेगा,कौन इसे सांत्वना देने की क्षमता पायगा। उर्मिला की नींद, एक आंध्र लोकगीत, जिसकी आंतरिक महत्ता समझने के लिए इतनी बड़ी पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ी है, उर्मिला की चौदह वर्ष की अटूट नींद का गान है। यहां उर्मिला रोई नहीं, चौदह वर्ष का दुरूह पति-विच्छेद उसने निद्रा देवी की गोद में ही काट लिया। अपनी इस तपस्या से ही उसने आंध्र देश की नारी से इतनी श्रद्धा पाई है, इसीसे वह खाली उर्मिला न रहकर सचमुच की देवी बन गई है। आँसू उसकी आँखों में उस समय आए थे जब लक्ष्मणने उसे जगाया था। मांगलिक संयम की प्रतीक, उसकी नींद उसके आँसुओं की पृष्ठ-भूमि में भरे हृदय के वेग को कितना गौरवमय बना डालती है ! आँसुओं का सत्यतम रूप ही एक सती की आँखों में तैर सकता है ।

युक्तप्रांत के एक लोकगीत में भी मैंने उर्मिला की आँखों में आँसू देखे हैं। उर्मिला का नाम उस गीत में मौजूद नहीं; वहां वह केवल लक्ष्मण की पत्नी के रूप में ही चक्की पीसती हमें दिखाई दे गई है। जाँत (चक्की) पर आटा पीसते या दाल दलते समय स्त्री ने उर्मिला और लक्ष्मण के मिलन का ध्यान करके एक सुंदर चित्र अंकित कर दिया है। किसी स्वप्न-जगत् में विचरते, देववाणी की स्पर्द्धा से गाए हुए भावचित्र-सा यह गीत साहित्य की एक अनूठी वस्तु है। जाँत-घर के साथ उर्मिला के आँसुओं का जो चिरस्थाई मेल यहां दिखाई पड़ रहा है उससे जाँत का इतिहास अतीत को छूने में समर्थ हुआ है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि गाँव की नारी ने लक्ष्मण-पत्नी को गीत में उतारते समय अपने निजी दुःख की ही अभिव्यक्ति की है। मन की परतों में समा जाने वाले, इस गीत के करुण रस का आस्वादन करके ही हम आगे बढ़ेंगे—

केरे देले गोहुमां हो रामा, केरे देले चँगेरिआ
कउनी बइरिनिआ हो रामा, भेजल जँतसरिआ
सासु देले गोहुमां हो रामा, ननदी चँगेरिआ
गोतनी बइरिनिआ हो रामा, भेजल जँतसरिआ

जँतवो न चलई हो रामा, मकरी न डोलइ
जांता के धइले हो रामा, रोवइ जँतसरिआ
घोड़वा चढ़ल हो लछुमन करइ पुछसरिआ
केकरी तिरिअवा हो रामा, रोवइ जँतसरिआ
तोहूं नए जानल हो लछुमन, तोहरे तिरिअवा
जंतवा के दूखे हो रामा, रोवइ जंतसरिआ
घोड़वा जे बंधलन हो लछुमन, बर रे बरुनिआ
झपसि पइसल हो लछुमन, नैना पोंछे लोरवा
केरे देले गोहुमां हो साँमर, केरे देले चंगेरिआ
कउनी बइरिनिआ हो रामा, भेजल जतसरिआ
सासु देले गोहुमां जी परभू, ननदी चंगेरिआ
गोतनी बइरिनिआ जी परभू, भेजले जंतसरिआ
जंतवो न चलइ जी परभू, मकरी न डोलइ
जाँता के धइले जी परभू, रोवौं जंतसरिआ
बहिआं पकरलन लछुमन, जँघिया बइठओलन
अपने गंमछवे हो लछुमन, पोंछें नैंना लोरवा

—'अहो राम ! किसने दिया गेहूं ? किस ने दी डलिया ?
किस बैरिन ने, अहो राम, तुझे जाँत-घर में भेजा ?'
'अहो राम ! सास ने गेहूं दिया, ननद ने दी डलिया !
अहो राम ! जेठानी बैरिन ने मुझे जाँत घर में भेजा !'
अहो राम ! जाँत नहीं चल रहा, न हिलती है मकरी !
जाँत पकड़ कर, अहो राम, पिसनहारी जाँत-घर में रो रही है !
अहो राम ! घोड़े पर चढ़ा लक्ष्मण पूछताछ कर रहा है—
'किसकी स्त्री, अहो राम, जाँत-घर में रो रही है ?'
'तुम नहीं जानते, ओ लक्ष्मण, तुम्हारी ही स्त्री तो है !
जाँत के दुःख से, अहो राम, वह जाँत-घर में रो रही है !'
घोड़े को लक्ष्मण ने बड़ की जटा से बाँध दिया है
झपट कर लक्ष्मण भीतर चला गया, पिसनहारी के आँसू पोंछ रहा है।

'किसने गेहूं दिया, ओ साँवली, किसने दी डलिया ?
किस बैरिन ने, अहो राम, तुझे जाँत-घर में भेजा ?'

'ओ स्वामी, सास ने गेहूं दिया, ननद ने दी डलिया !
जेठानी बैरिन ने, ओ स्वामी, मुझे जाँत-घर में भेजा !
जाँत चलता नहीं, ओ स्वामी, न हिलती है मकरी !
ओ स्वामी, जाँत पकड़ कर मैं जाँत-घर में रो रही हूं !'
बाँह पकड़ लछमण ने उसे अपनी जाँघ पर बिठा लिया,
अपने गमछे से लछमण उसकी आँखों के आँसू पोंछ रहे हैं ।'

सास, ननद तथा जेठानी की ओर जो संकेत यहां दीख रहा है, गाँवों के सम्मिलित कुटुंब में अनादृता वधू की करुण कहानी भरसक कह सका है। मूर्तिमती उर्मिला, आज हज़ारों वर्ष बाद भी, पिसनहारियों की सखी है। अतीत के घनीमूत भाव, आज भी, आँसुओं में तैर रहे हैं ! साँवली, छुईमुई-सी उर्मिला को स्वयं लछमण ही नहीं पहचान सके थे ! इसका कारण शायद यह हो कि जाँत-घर के बाहर से लछमण उसे ठीक-से देख नहीं पाए थे; पर उन्हें उसकी आँखों के आँसू कैसे नज़र आगए थे ? या क्या उर्मिला ज़ोर से विलाप कर रही थी ? गीत का लछमण भी निरा गाँव का आदमी ही तो है; गमछेका शौक़ीन। अब वह इसीसे नारीके आँसू पोंछ रहा है। इससे क्या उर्मिला के आंसू झट रुक गए होंगे ? लछमण भी चुप रहे;उर्मिला भी। उपमाएं यहां नहीं, न अलंकार। पर रस तो है इस चित्र-सुलभ गीत में। और रस भी अति स्वाभाविक। शुरू में प्रश्नोत्तर का जो क्रम बँधा था, उसमें फिर मूकता आ गई, हृदय की बात जैसे गमछे के सपुर्द की गई हो। मूक सही, गमछा अपने काम में लगा है, पर उसकी गति भी तो मूक हाथ पर निर्भर है। उर्मिला अब भी रो रही है। जांत का गीत आज भी उसके आंसुओं से भीग रहा है।

: ३ :

'उर्मिला की नींद' अब हमारे सामने है।

आन्ध्र देशकी निष्ठावती स्त्रियां इसे मिलकर गाती हैं। सैकड़ों वर्षोंको पार करके यह गीत विकसित हुआ है; इसे स्त्रियों के हृदय में एक अपूर्व गौरव मिला है। पर, जैसा कि कालिदास ने अपनी कविता संसार के सम्मुख रखते हुए कहा था, 'कोई कविता न पुरानी होने से प्रशंसनीय हो सकती है, न नई होने से निंदनीय; संतजन उसकी परीक्षा करके उसे ग्रहण करते हैं, और कम-समझ दूसरों के कहे पर विश्वास कर लेते हैं।' इस गीत के वास्तविक मूल्य की परीक्षा करने के बाद ही इसे उत्तमतम लोकगीतों में स्थान दिया जाना चाहिए।

शब्दों की अपार शक्ति, जो विकसित आत्मा के प्रतीक होने पर, बिना किसी मस्तिष्क-चमत्कारके, बिना पिंगल-ज्ञान के, सदासे हृदय की मातृ-भाषा का आशीर्वाद प्राप्त करती आई है, 'उर्मिला की नींद' में प्रत्यक्ष है। यह एक झरना है जो पहाड़ चीरकर फूट पड़ा है। मस्तिष्क की भाषा इसके पास नहीं मिलने की; हृदय के बोल—सहानुभूति के चिर सखा, इनका सर्वस्व हैं। उर्मिला का विश्वास था कि भले ही लक्ष्मण उनको छोड़ कर बन को चले जाय, एक दिन लौटकर वह उससे मिलेंगे ही, पर विरह की पीड़ा को सुलाती वह स्वयं सो गई। उसे आशा थी कि लक्ष्मण स्वयं आकर उसे जगायगा; इस बात को खोलकर, गीत में प्रधानता नहीं दी गई। पर इससे क्या ? स्त्रियां इसे जानती हैं।

शब्द आदमी खुद बनाता है; हृदय के जादू से वह एक-एक शब्द के पीछे खुद मौजूद रहता है। सुख-दुःख की बाह्य परतों के भीतर लहू जिस चाल से बहता है, वही शब्दों को आगे पीछे करने में जुटी रहती है। इन्हीं शब्दों में थिरकन का समावेश होता है, रस का जन्म होता है। हृदय और भाषा के सहयोग से—शब्दों की साधना से, लोक-जीवन की कोख से अनेक ऐसे गीतों के बीच में जिन्हें अक्षय आयु नसीब नहीं होती, कभी-कभी ऐसे गौरव-पूर्ण गीत का जन्म भी हो जाता है, जो युगों को पार करता, मृत्यु से होड़ लेता, अग्रसर होता है। 'उर्मिला की नींद' ऐसा ही चिरस्थाई गीत है।

चौदह वर्ष अयोध्या से दूर रहने के बाद, राम दरबार में बैठे हैं। यहीं से गीत शुरू होता है—

श्री राम भूपालड़, पट्टाभिषिक्तुड़इ कोलुवुण्डगा
भरत, शत्रुघ्नुलपुड़, सौमित्री वरुसा सेवलु सेयगा
मारुतात्मजुलप्पुड़, राघवुला जेरिपादमु लोत्तगा
सुग्रीवु कोलुवुलो, कूर्मितो नम्र ुड़इ कोलुवुण्डगा
तुम्बुलु नारदुलुनू, ऐतेञ्ची निलचि गानमु सेयगा
रम्भादुला सभाललो, इन्ति शुभ रम्यमुना नाट्यमाड़ा
सनकादि मौनीन्द्रलू, कोलुवुलो शास्त्रमुलु तर्किञ्चगा
सकला देवतलु गोलुवा, उदयाना पुष्पवर्षमु गुरिसेनू

—'सम्राट् श्रीराम, अभिषेक के पश्चात्, दरबार में बैठे थे।
भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण समुचित रूप से राम की सेवा में लगे थे;

हनुमान तब राघव के पैर दबाने लगा;
सुग्रीव इस दरबार में प्रेम से नम्र हुआ खड़ा था;
तुंबुरु और नारद वहां पर उपस्थित होकर खड़े-खड़े गान कर रहे थे;
रंभा और अन्य अप्सराएं — शुभ सुन्दरियां नृत्य कर रही थीं;
सनक तथा अन्य श्रेष्ठ मुनि-गण दरबार में शास्त्रीय तर्क कर रहे थे;
जब सब देवता-गण सेवा में लगे थे, उस सुबह वहां पुष्प-वर्षा हुई !'

यह दृश्य रूढ़ि पर आश्रित है। इसमें काफ़ी खींचतान आगई है, यह प्रत्यक्ष है। यह ठीक है कि रूढ़ि अनेक बार कल्पना के बचपन में उसकी धात्री-रूप से सेवा किया करती है, पर जिस देव-अंश का प्रवेश, इसके द्वारा, रघुवर राम के दरबार में हुआ है, उसने उनके मानव-अंतस्तल को तो तुम्हारे सम्मुख आने ही नहीं दिया। तुंबुरु और नारद अलग गान कर रहे हैं। रंभा और उस की हमजोलियों ने अलग सौंदर्य और नृत्य का सामान बना रखा है। सब देवता भी सेवा में हाज़िर हैं। इस पर भी मुनियोंकी शास्त्रचर्चा में विघ्न नहीं पड़ा ! हमारा खयाल था राम मुस्कराएंगे, दो-एक शब्द कहेंगे; पर वह कुछ नहीं बोले; उनके दरबार पर स्वर्ग से पुष्प-वर्षा होते देर न लगी !

लो, जनकनंदिनी आ रही हैं—

सभयन्ता कलय जूचि, येतेञ्चे सन्तोषभुना जानकी,
पतिमुखमु जूचि निलची, विनयमुन पट्टी अञ्जली ग्रकुना;
देवदेवेन्द्र विनुमा, विन्नपमु तेलिपेनु चित्तगिम्पू,
धराशेषुड्वध रिञ्चा, ओक पिन्ना मनवि गहनि पलिकेनु
मुन्दु मन मड़वु लकुनू, पोगानु मुददु मरदी वेन्टनू
पयन मइरगा जूची, तन चेलिय पयनमायेनु ऊर्मिला
वद्दुनी वुण्डु मनुचू, सौमित्री मनला सेविम्पा वच्चे
नाड़ु मोदलुगा शय्यपइ, कनुमूसि नाति पवलिञ्चु चुण्डे

—'समस्त दरबार की ओर देखकर इतमीनान से सीता अंदर आई। पति के मुख की तरफ देख कर, खड़ी होकर, विनयपूर्वक शीघ्र अंजली बना कर वह बोली—
'हे देव, हे देवेन्द्र सुनो; मैं अपनी विनती करूँगी, विचार करना, जैसे कि धरा को थामनेवाला शेषनाग भी सुनेगा; मेरी एक छोटी-सी विनती है।

तब जब हम बन को गए थे, प्रिय देवर के साथ,
उसे चलते देख उसकी पत्नी उर्मिला भी चल पड़ी थी।
नहीं, तुम यहीं 'रहो, उसे यह कहकर लछमण हमारी सेवा में
आ गया था।
उस दिन से वह नारी, आँखें मीचे अपने पलंग पर सोई पड़ी है!'

सीता के शब्दों में हमने सीता का हृदय देख लिया है। गीत में यह नहीं बताया गया कि जनकनंदिनी ने किस वर्ण की साड़ी पहन रखी थी, कौन-कौन आभूषण सुंदरताको बढ़ा रहे थे, कैसा केश-विन्यास किया गया था;नपा-नपाया, सरल, सीधा वर्णन गीत की स्वाभाविकता का परिचायक है।

सीता के शब्दों का राम पर बहुत असर होता है। और वह लछमण को उर्मिला के पास जाने को आज्ञा देते हैं—

यिकनइना यानतिच्ची, तम्मुनी इन्दुमुखिकडकम्पुड़ी
प्राण सति ईलागुना, कूर्मितो पलुकङ्गा विनिरामुड़
तलपोसी चड़ानेन्ते, तन मदिकि तगुविचारमु बुट्टेनू
आश्चर्य पड़ि रामुड़ु अक्कुना अन्ना लक्ष्मणा रम्मने
रम्मि लक्ष्मण अक्कुना, युचितमा रमणि नेड़बासियुन्टा
तड़ वाये यिकनैननू प्रियुरालि धग्गरकु नीवुबोई
सरस सल्लाप मुलचे, दुःखोप श्रमलेल्ला मान्पवइया

—'अब भी हुक्म देकर अपने भाई को कृपया उस चंद्रमुखी के पास
भेज दो!'

पत्नी प्रेमपूर्वक जब यों बोली, सुन कर,
इस पर विचार कर, राम के हृदय में यथेष्ट दुःख पैदा हुआ।
दंग होकर राम लछमण से बोले—'आओ तो भइया लछमण,
जल्द आओ, लछमण, उस सुन्दरी से परे रहना वाजिब है क्या?
बहुत समय हो गया! अभी अपनी प्रेयसी के पास जाकर,
रसीली बातचीत से उसकी विरह पीड़ाएं शांत करो, जाओ।'

लछमण एक खामोश आदमी है; चुपचाप भाई के वचन सुनता है; अपनी करनी पर वह पछताता नहीं। लौट कर उसने उर्मिला की खबर-सार तो ली होती! जैसे वह केवल भाई भर हो, पति नहीं! अब भाई का हुक्म हुआ, वह चल पड़ा—

अन्ना माटलकु रामा अनुजड़ू महाप्रसादमनुचू
अनिपिञ्चुकुनि अक्कुना, सभाविड़िचि चनुदेञ्चे तन गृहमुकू
—'भाई के शब्द सुन राम का भइया 'महाप्रसादम्' कह कर,
अब जब कि उनसे यों कहलवा लिया, दरबार से विदा लेकर महल की ओर चला।'

हम भी लक्ष्मण के साथ चल पड़ते हैं। अब उस चिर-विरहिणी, चंद्र-मुखी उर्मिला को देखने का समय करीब है। हमारा कुतूहल जाग उठा है—

वच्चे लक्ष्मणुड़ू चलवा, सन्नम्पु वाकिल्लु गड़चिवच्ची
केलि गृहमु जोच्चियू लक्ष्मन्ना कीरवाणिनि जूचेनू
कोमली पान्पु पइना तोड़ावत्ति कोका सवरिञ्चि वेगा
तोड़गुला धरिञ्चि वेगा चल्लनी तल्लु पूरिञ्चि मेना
प्राणनायिकि पान्पुना कूर्चुण्डि भाषिञ्चे विरहम्मुना
कोम्मनी मुदूदु योगमू, सेविम्पा गोरिनाड़े चन्द्रुड़ू
ताम्बूलमेड़ावासिना वोप्पेने नगुमोवि चिगरू कोनगा
अमृतधारलु कुरियगा, पलुकवे आत्मा चल्लना सेयवे
चिंटितामरलु बोलेड़ी पादमुला कीलिञ्चवे स्वर्णमू

—'लक्ष्मण आया, संगमर्मर की धर्मशालाओं के आँगन पार करके।
शयन-गृह में दाखिल होकर लक्ष्मण ने सुग्गे-जैसी वाणी बोलने वाली नारी को देखा।
कोमलांगी के पलँग पर, उसकी जंघाओं को दबाकर, वेग से उसकी साड़ी ठीक करके,
स्वयं शीघ्र यथोचित वस्त्र पहन, उर्मिला के शरीर पर शीतल जल के छींटे मार,
पत्नी के पलंग पर बैठ वह विरह सहित बोला—
'ओ नारी, तुम्हारे चूमने लायक मुख को देखने का इच्छुक है चाँद !
पान चबाये बहुत समय हो चुकने पर भी तेरा मुस्कराता निचला होंठ पल्लव की नोक-सा दीखता है !
अमृत बरसाती, मेरे साथ बोल मेरी आत्मा में ठंडक पहुंचा !
छोटे कमलों-से हैं तेरे पैर ; इन पर स्वर्ण पहन !'
अहो, लक्ष्मण तो योंही खामोश दीखता था, वह तो प्यार के बोलों में

निपुण है ! यहां गीत में निद्रालु उर्मिला जाग उठती है। अभी वह आंखें नहीं खोलती। वह समझती है किसी गैर आदमी ने वहां तक आने का साहस किया है। आंखें बंद रखती हैं; डरती नहीं एकदम; चेतावनी देती है, और फिर एक बार मुसीबत के खयाल से डर जाती है:—

तन्नु ता मरिचि उन्ना आकोम्मा तमकमुना वणक दोड़गे
अइया मीरेवारइया मीरिन्ता यागइम्बुला कोस्तिरी
सन्दुगोन्दुलु वेताकुचू मीरिन्ता तप्पु सेयगा वस्तिरो
एव्वरुनु लेनि वेला मीरिपुड़ एकान्त मुला कोस्तिरा
मा तण्ड्री जनकराजू विन्टेमिमु आज्ञा सेवका मानरू
मा अक्का बावा विन्ना, मीकिपुड़ प्राणमुकु हानिवच्चू
मा अक्का मरिविन्नानू, मिम्मिपुड़ ब्रतुकनिव्वद् जगतिलो
हेच्चइना वमूशनिकी, अपकीर्ति वच्चे नेनेमि सेतू
कीर्तिगला इन्टा बुट्टी, अपकीर्ति वच्चे नेनेमि सेतू

—'वह नारी, जो अपने आपको भूली पड़ी थी, काँपने लगी—
'ओ पुरुष ! तू कौन है ? शरारत करने आया है !
छोटे, तंग रास्तों से होकर, इतनी तलाश करता, तू आया है शरारत करने !
इस वक्त कोई भी तो यहां नहीं है, तू यहां ही आ रहा है क्या ?
मेरे पिता राजा जनक सुनेंगे तो तेरे विरुद्ध हुक्म नहीं टलेगा उनका।
मेरे बहन और बहनोई ने सुन लिया तो अभी तेरी जान पर जोखिम आ जायगी।
अकेली मेरी बहन ही सुनेगी तो धरती पर तेरी जान बाक़ी न छोड़ेगी।
आह ! इतने महान वंश पर अपकीर्ति आई चाहती है ! मैं क्या करूं ?
मशहूर घर में मेरा जन्म हुआ, अपकीर्ति आई चाहती है ! मैं क्या करूं ?'

लक्ष्मण चुप रहता है। उर्मिला बोलती जाती है, पड़ी-पड़ी बदस्तूर आँखें बंद किए। उर्मिला के अगले शब्दों से यह प्रत्यक्ष है कि उसे सीता के रावण द्वारा चुराए जाने की ब.त ज्ञात है। यों यह बात मूल किंवदंति के साथ मेल नहीं खाती; यदि उर्मिला की नींद इस बीच में कभी नहीं टूटी थी, जैसा

कि लोक-मानस का विश्वास है, तो उर्मिला को सीता के चुराए जाने का पता कैसे चल गया ? और फिर इससे यह भी प्रत्यक्ष है कि यह गीत किसी विद्वान् के मस्तिष्क का मोहताज न रहकर लोक-मानस से ही, जिसमें कुछ-कुछ बेसिलसिलापन भी स्वाभाविक ही है, उपजा है। उर्मिला बोलती जाती है—

ओकड़ालि कोरिगादा, इन्द्रुडिकि ओड़लेल्ला हीनमाए
पर सतनिनि गोरकादा, रावणुड़ मूलामुतो हत माएनू
इट्टि द्रोहमुलु मीरू, एरिगुण्डि इन्ता द्रोहमु कोस्तिरा
आड़ा तोड़ाबुट्टूलू, मावन्टि तल्ली लेदा मीकुनू

—'बेगानी नारी पर मन रखने से ही इन्द्र का समस्त शरीर हीन नहीं हो गया था क्या ?
पराई स्त्री पाने की इच्छा से ही क्या रावण अपने वंश सहित बरबाद नहीं हो गया ?
तू ऐसे द्रोहों का फल जानता हुआ ऐसे भारी द्रोह के लिए आ निकला है !
सहोदर बहनें और मुझ-सी मां नहीं हैं क्या तेरे यहां ?'

उर्मिला आँखें नहीं खोलती। भीतर उसका खून खौल रहा है। भय भी लगा है। पुरुष के सनातन स्वभाव का—उसकी अहंमन्यता का, शासन-ढंग अथवा समय पर स्त्री की चापलूसी कर सकने की क़दीमी आदत का, प्रतीक बना लक्ष्मण अपनी बात कह सकने की सतर्कता पा लेता है।

अनुचु ऊर्मिला पलुकगा, लक्ष्मणुड़ विनिवगचि इटलानियेनु
श्रीरामु तम्मुण्डने, अतड़न्ता सृष्टि लो नोकरुगलरा
जनकुनल्लुगानटे, भूमिलो जनकुलनगा नेव्वरू
शतपत्रमुनाबुट्टिना, चेड़ेरो सीतकु मरदीगाना
सीता अनगा नेव्वरू, भूमि लो सृष्टि शनेनु एरुगा
भूमिनूर्मिलावन्दुरे, नी पेरू बोङ्कने ईपटलानू
दशरधुलानेड़बासियू, अक्कड़ा जानकी चेराबोएनू
रावणुनि सम्हरिञ्ची, आ धरणि देवी तोड़ कुवस्तिमी
चेकोन्ना इन्दुवदना, लोकापकीर्तिके लोनाऊदुनु
सीतामरदिनि गानटे, चेड़ेरो दयउञ्चि मेलुकोनवे
निन्नु बासिनदीमोदलु, प्राणसखि निद्राहारमुलेरुगने

—'उर्मिला यों कह चुकी तो लक्ष्मण, जो ध्यान से सुन रहा था और खिन्न था

बोला—'मैं तो श्रीराम का भाई हूं; कौन महान् है उनसा, सृष्टि में ?

क्या मैं जनक का दामाद नहीं हूं ? नहीं तो भूमि पर जनक है कौन ?

ओ शतपत्र से उत्पन्न हुई नारी ? क्या मैं सीता का देवर नहीं ?

नहीं तो सीता है कौन, भूमि पर, मैं नहीं जानता, ओ सृष्टिकर्ता !

धरती पर उर्मिला कहते हैं तुझे ! तेरे नाम की सौगंद, मैं झूठी बात नहीं कहता !

दशरथ को यहां छोड़ हमारे वन में जाने पर, वहां सीता चुरा ली गई थी।

रावण का संहार करके, हम अपनी धरती देवी, सीता, को वापिस लाए हैं।

यदि मैंने अनिष्ट के लिए हाथ उठाया हो, ओ चंद्रमुखी, लोक में मेरी अपकीर्ति होगी ही।

मैं सीता का अपना देवर नहीं क्या? ओ नारी ! दया कर, उठ जाग !

तुमसे बिछुड़ कर, ओ प्राण-सखी, न मैं कभी सोया, न मैंने कुछ खाया !"

फिर लक्ष्मण आत्म-हत्या की बात पर आ गया। उर्मिला के हृदय में प्रेम जगाकर वह उसे एकदम आँखें खोलकर सत्य और असत्य की विवेचना के लिए, अपने ज़ोरदार शब्दों द्वारा, एक ज़बरदस्त झटका दे देता है—

> नीवुलेवका उन्ननु, ओ सखी प्राणमुलु निलुपलेने
> अनुचुक न्नुला जलमुलु, कारङ्गा लक्ष्मणुड़ तावलिकेनु
> कत्तिवरा दीसिअपुड़, लक्ष्मणुड़ ताने सुकोन्दननेन

—'यदि तुम उठोगी नहीं, ओ सखी ! मैं प्राण नहीं थाम सकता !'

यह कहते, लक्ष्मण की आँखों में आँसू भर आए।

म्यान से कटार निकाल, लक्ष्मण बोला—'मैं अपनी हत्या करूँगा !'

यह उर्मिला की परीक्षा थी—

> अनुचु वादमु शायगा, उर्मिला दद्दिरिली पड़ि लेचेनू
> प्राणेशुडगुटा देलिसि, कोमलिकि प्राणमुलु तेजरिल्ले
> पति पाद पद्ममुलकू, अप्पुड़ पङ्कजाक्षी म्रोक्केनू

—'उस के यों तर्क करने पर उर्मिला चौंककर उठ खड़ी हुई।
यह जानकर कि वह उसका प्राणेश है, कोमल नारी के प्राण में
दोबारा तेज आगया।
पति के कमल-से पैरों पर, तब वह कमल-से नेत्रों वाली नारी झुक
गई, साष्टांग !'

अब लक्ष्मण के हृदय में भी प्रेम और फ़र्ज़ की संधि हुई; उसने उर्मिला को उठा लिया—

पादमुला पड़नी उन्ना, तनासतिनी करमुना लेव नेत्ति
म्र च्ची कउगिटा चेचुकु, कान्ताकु कन्नाजलमुलु दुड़िचेनू
—'पैरों पर पड़ी अपनी पत्नी को हाथों से उठाकर,
उसे आलिंगन कर, उसने नारी की आँखों के आँसू पोंछे।'

उर्मिला ने इस बीच में सोच लिया था कि उसे अब बातचीत को कौन सा रुख़ देना चाहिए—

मा तण्ड्री जनकराजु, मिमु नम्मि मरचि कल्याण मिच्चे
महिपति अल्लुड़नुचू तेलिअका मादिनि उप्पोङ्गचुण्डे
चित्तमोका दिक्कुनुञ्ची, समयमुना चिन्ना बुतुरू इन्तुला
—'मेरे पिता महाराज जनक ने आप पर भरोसा करके मुझे ब्याह
दिया !
यह सोचकर कि उनका दामाद महीपति है, बिना जाने ही वह मन
में फूले न समाए थे !
अपने मन को किसी एक ओर लगाकर, अक्सर पुरुष नारी के प्रति
लाँछन सूचक शब्द बोल दिया करता है।'

अब लक्ष्मण की बारी थी—

अनुचु ऊर्मिला पलुकगा, लक्ष्मणुड़ मनसुलो चिन्तिम्पुचू
दुःख वशामुना बलकुतू, वुण्डेटि सुदति भावम्मु
चिन्तिम्पा निकानेटिके, ओ बाला अनि इटलु लालिम्पुचु
तरुणि पदुनालुगेण्ड्लु, निनु विड़िचि धरिइस्तिने प्राणमू
आहारा निद्रालूनु, एरुगने अतिवा नीमीदयाना
पुण्य पुरुषुला स्त्रीलनू, एड़ाबापि पूर्वजन्मुनामनमू
एन्नेन्नि युगमुलइना, इद्मिनाकु अनुभविञ्चकातीरदू
—'जब उर्मिला यों बोल चुकी, लक्ष्मण मन-ही-मन खिन्न हुआ

दुःख के वश में बोलने वाली, उस सुदंरी का भाव समझ लिया उसने;
'क्यों चिंतित हो, बाले !' यों ढारस बँधाते हुए, (बोला)—
'ओ तरुणी ! चौदह वर्ष, तुम से बिछुड़, मैं किसी तरह जीवित रहा;
आहार और निद्रा मैंने नहीं जानी, ओ नारी, मुझे तुम्हारी सौगंद ।
पुण्य पुरुषों की पत्नियों को, पूर्वजन्म में खंडित किया होगा हमने !
अनेक युग क्यों न बीत जायँ, कर्म-फल भोगे बिना नहीं रह सकते हम ।'

इसके बाद इस नाट्य-सुलभ गीत की तीसरी झांकी शुरू होती है । यों पहली झांकी में भी, जिसमें हमने सीता को भरे दरबार में शिकायत करते सुना था, रस की मात्रा कुछ कम नहीं है । इस नई झांकी में हम उर्मिला और लक्ष्मण को क़द्दे-आदम आईने के सम्मुख खड़े देख सकेंगे ।

सति पतुल चिन्त जूचि, कउसल्या सम्पेङ्ग नूने देच्ची
रत्न पीठमुला नुञ्ची, कउसल्या दम्पतुला सिरसन्टेनू
गन्धमुलु कल्पि देच्ची, ओ चेलिया पन्नीटा जलाकामार्चे
मेलइना वलिपट्टुतो, लक्ष्मणाकु मेनु तल्लोत्तिरपुड़
बङ्गारू पूलापट्टू, ऊर्मिलाकु बागुमीरगा गट्टेनु
कोटिसूर्युला दीप्तितो, वेलिगटि मेलइना रविका दोड़गू
आभरणमुलु सोम्मुलू, आ आदिलक्ष्मीके अलङ्करिञ्ची
मुत्याला तिरूचूर्णमू, लक्ष्मणा मुद्दमुखमुना तीर्चेनू
वेलालोनि माणिक्यमू, पति गूड़िनिलुबुटद्दमु जूचेनू
सिग्गुपड़ि सिरसोञ्चकु, ऊर्मिला चिरु नव्वुतो निलाचेनू

—'पति पत्नीको चिंतातुर पाकर कौशल्या चंपक-सुगंधित तेल ले आई
रत्न-भूषित पीढ़ों पर दंपति को बैठा कर, वह उनके सिर पर मालिश करने लगी;
एक टहलनी चंदन-लेप तैयार कर लाई; 'पन्नीटा'-जल से उसने उन्हें स्नान कराया;
सुन्दर, महीन रेशम से उसने लक्ष्मण का शरीर पोंछा ।
उर्मिला को टहलनी ने सुनहरे, पुष्प-खचित वस्त्र पहनाए;
एक करोड़ सूर्यों की दीप्ति उसकी अंगिया पर चमक उठी !
आभूषणों और रत्नों द्वारा इस आदि-लक्ष्मी उर्मिला का सिंगार किया गया;

मुक्ता-मिश्रित त्रिचूर्ण से टहलनी ने लक्ष्मण के प्यारे माथे पर
तिलक किया।

बहुमूल्य माणिक्य-सी उर्मिला ने पति के साथ क़द्दे आदम आइने में
अपनी मूर्ति निहारी !

लजा कर, सिर झुकाए, उर्मिला खड़ी-खड़ी मुसकरा रही थी !'

यहां से फिर नई झांकी शुरू होती है—

भोजनपुशाला लोनू, आ आणि मुत्याला पीटा मीदा
राज शेखरुलप्पुडु, देवेन्द्र भोगमुतो गूर्चुण्डेनू
मरदला माणिक्यमा, रम्मनी मगुवा द्रुडुकू वच्चेनू
मुरिपेम्पु सिग्गुचेता, चिलकला कोलिकी मुखमटुवञ्चुकू
हंस नड़कला चेड़ेता, पादमुला अन्देलटुरवमुसेआ
बइआ रमुनु जूपुचू, युण्डे नोक ओप्पुला कुप्पावलेनू
कुलुकु मद्दुला गुम्मनू, सुमित्रा कोड़कु पोत्तुना युण्चेनू
वङ्गारू पल्लेरमुला, पञ्चापरमान्नमुलु वड्डिञ्चेने
वेण्डि गिन्नेला नेतुंलु, कउसल्या वेड़्कतो वट्टिएचेनू
आवुनेई अतिरसमुलु, सूमित्रा कोमरुनिकि वड्डिएचेन
सूमित्रा गारावुला, पट्टितो पुञ्वुला शान्ता वलिके
अन्ना पदुनालुगेण्ड्लु, अड़विलो आहारानिद्रलनू
उन्ना बड़ालिकलु दीरा, नेड्ड्मना ऊर्मिलातोनारगिञ्चू
पिण्डिवन्टला नेतुलू, बोब्बटलु, दण्डिगा नारगिञ्चु
मीगड़ा पेरूगु मीरू, मज्जिगालु वाञ्छदीरगा त्रागुड़ी
आरगिञ्ची लेचिरी, सम्पूर्ण मारगिञ्ची निलचिरी
गङ्गा जलमुना हस्तमू; कड़िगीताम्बूलमुलु वेयेचुण्ड्री

— भाजन-शाला में 'आणी' मोतियों के पीढ़े पर

तब वह राजशेखर राम देवता इन्द्र के-से सुख-भोग सहित आ बैठे।
माणिक्य-सी भावज को 'अंदर आओ तो' कहते राम अंदर ले आए।
चित्ताकर्षक लज्जा सहित सुग्गे-सी उर्मिला ने मुख दूसरी ओर
मोड़ लिया।

और वह हंसगामिनी पैजनियों से झनझन शब्द उत्पन्न करती आई।
सुषमा दिखाती, उर्मिला एक सौंदर्य-राशि ही दिखती थी।

मानिनी, प्रिय उर्मिला को सुमित्रा ने अपने पुत्र की बग़ल में बैठाया।

सोने के थालों में उसने पांच परमान्न परोसे।
कौशल्या खुशी से चाँदी की कटोरियों में घी लाई।
गोघृत और 'अतिरसमु' सुमित्रा ने अपने पुत्र के सामने ला रखे।
लाड़ले सुमित्रानंदन से फूलों पर रीझी शांता बोली—
'भइया, चौदह वर्ष बन में न तुमने खाया न तुम सोये!
सब थकान दूर हो जावे जिससे, खूब खाओ हमारी उर्मिला के संग में आज!

ये मिठाइयां, घी, बोब्बट, जी भरकर खाओ!
यह मलाई और यह दही और छाछ, तुम सब जने इच्छानुसार पान करो!

भोजन पाकर, उठ खड़े हुए सब जने, जी भर खाकर,
गंगा-जल से हाथ धोकर, वे पान के बीड़े लेने लगे!'

अगली झाँकी में शांता और सीता का हास-परिहास ननद भावज की कहानी के पुराने पन्नों को छू रहा है। उर्मिला यों इस गोष्ठी में मौजूद है; शांता के प्रथम व्यंग्य में उर्मिला ही निशाना बनी है। वह मूक रही; चपल अट्टहास में भाग न लिया; करीब होकर भी पुलकन-स्पंदन के प्रति उसकी यह खामोश अनास्था न जाने कितनी करुणा जगा रही है—

चेड़े विनवे जानकी नी चेलिय ऊर्मिला बुद्धलन्नी
भमिड़ी पानपुना सोलासी युण्ड नोका पदुनालुगेण्डलु पणाती
कुन्दनपु प्रतिमाकललू ई कलालू एंदुन्डिदागुन्नवो
दृष्टि तगुलाकुण्डनू नीलालु निब्बालु लिव्वरम्मा
अनिशान्ताबलुकगानू विनि सीता नव्वुचु इटूलनिअनू
इन्द्रादि चन्द्र लनू वल पिञ्चु चन्द्र लू मी तम्मलू
दृष्टि तगुला कुण्डनू नीलाला निव्वालू लेत्तारम्मा
अनि सीता पलुक गानू विनि शान्ता नव्वुचू इटूलनिअन
अक्काचेल्लेण्ड्रू मीरू मिक्कोली सौंदर्यशालुरम्मा
मा तम्मुलू नलू गुरी वलापिञ्चु जाणालकु दृष्टि तगुलू
अनि शान्ता पलक गानू विनि सीतानव्वुचु इटलनेनु
मायन्ना ऋष्यशृंगू नीवनमु लोकूड़ि बायकुन्ना

एमि येरुगनि तपसिनी श्रो वदिना केलिञ्चि विढ़िचिनावू
शान्ता विनि इटलानेनू श्रो सीता मा वदिना धरनी पुत्री
ईश्वरुनि कृपवलननू मा इल्लु जोच्चि युन्नावु नीवू
कोमली सीता नीवू कोड़लवू पावनम्माए गृहमू

—'श्रो नारी, श्रो सीता ! सुनो तो अपनी बहिन उर्मिला की बुद्धिमानी
अपने स्वर्ण-पलंग पर मूर्छित हुई पड़ी रही वह चौदह साल लगातार !
इस स्वर्ण-प्रतिमा की सब छटा इतने वर्ष कहां छुपी रही थी !
कहीं उसे कुदृष्टि न लग जाय, उस पर 'नीलालु' आरती कर, श्रो नारी !'

शांता यों बोली। इसे सुन सीता हँसकर कहने लगी—
'इंद्र तक को मोह लेने वाले तुम्हारे चाँद-से भाई जो हैं !
कहीं उन्हें कुदृष्टि न लग जाय, उन पर 'नीलालु' आरती करो ना !'
सीता यों बोली, इसे सुन शांता हँस कर कहने लगी—
'तुम सब बहनें सुन्दरियां हो, अनुपम !
मेरे चारों भाइयों को मोह लिया है तुमने, कहीं कुदृष्टि न लगे तुम-सी होशियार स्त्रियों को !'
शांता यों बोली, सुन इसे सीता हँसकर कहने लगी—
'ऋष्यश्रृंग जो मेरे लिए भाई-सम है, बन में तुझसे मिलकर कभी भी तो तुझे तनहा नहीं छोड़ता !
उस भोले तपस्वी का तुम बेहद मज़ाक उड़ाया करती हो।'
इसे सुन शांता बोली—'सीता ! श्रो मेरी भौजी ! श्रो धरती-पुत्री !
ईश्वर की कृपा से तुमने हमारे गृह में प्रवेश किया है !
श्रो कोमलांगी सीता, तुम हमारी वधू बनी तो हमारा गृह पवित्र हुआ !'

यहां से फिर झांकी बदलती है—

अलिसुन्ना सुकपुडु, सुमित्रा हम्सु पानुपु परचेनु
पट्टतलागड़ालु परची, पान्पुपइ पन्नीरू चिलिकिञ्चेनू
वट्टी व्रेल्ला सुरटिनो, कीरवाणी यक्कड़ नुञ्चेनू
गन्ध कस्तूरी पुनुगु, जव्वाजि गिन्नेलातो तेच्चुञ्चेनू
पच्ची पोकलु याकलु, मुत्याला सुन्ना मक्कड़नुञ्चेनू

सम्पेङ्गा पुवुला गाली, विसरगा शय्यापई गूरचुण्डरी
मल्ले पुवुल्ला गाली यू, विसरगा शय्यापई गूरचुण्डरी
पड़तीकी कोप्पा मरगा, लक्ष्मणुडु नेरुपुतो जड़लल्लीनू
बोड्डु मल्लेलू जाजुलू, जड़पइनी श्रृंगारमुगा नुञ्चेन
ताम्बूलमुलू वेयुचु, दम्पतुलु कलसी मुच्चटा लाड़ुचू
अक्का चेरबोवू विधमू एमनी' अड़िगे नप्पुडु ऊर्मिला
सिम्ह विक्रमुलू मीरू, युण्डगा सीतेटलू चेरबोएनू
राम लक्ष्मणुलु मीरू, युण्डगा रमणेटलू चेरबोएनू
अनुचु ऊर्मिला पलुकगा, लक्ष्मणुडु विनि मगुड़ी इटलानिनु
काल विधि गड्डुपा वशमा, कड़कुना ब्रह्म के यइना गानी
अइयोध्या वेड़लिमेमु, अन्दोक्का परणशालालोनुन्टिमी
कनकम्पू माया मृगमू, आ परणशाला वाकिटकोच्चेनू
आ मृगमू तेम्मनुचुनु, मीयक्का स्वामी कालूला कु म्रोक्केनु
विल्लम्बु चेता वट्टी, श्री राम चन्द्रलु वेटा वेड़ले
विंल्लम्बु तोड़िगी वेया, मृगमू विन्तइना कूतगूसे
हा सीता हा लक्ष्मणा, अनीकूया अतिवा भीतिल्ली पलिके
नन्न बोम्मनी पलिकेनु, येरुगवु तल्ली वद्दन्टीनेनू
करण सूल्लम्बु लइना, येन्नइना माटले नन्नाड़ेनू
गिरिगी सीयाना वेट्टी, पोईतिनी मा यन्ना दग्गिरकुनु
पोई नन्ता वेगमे, रावणुड़ माया वेशमु वेसुकु
नारायणनुचु वच्ची, नलिनाक्षी यदुटाने निलुचुण्डेनु
हरि भक्तुड़नि तोचि, आमगु वा अति वेग भिक्ष वेट्टे
पदितलालु चूपा नतड़, आ चेड़े मूर्च्छ पड़ि पोवगानु
गेड्डा तो पेल्ला गिञ्ची, एतु कोनि पोएने तन लङ्ककु
पसिड़ी मृगमुनु वट्टुकु, श्रीरामचन्द्रलु एतेञ्चिरी
सीताचटलेमि जूचि, परणशाला वनमु वेदकी वेदकी
किष्किन्धा पर्वताना, कञ्चितिमी परमऋषि सुग्रीवुनी
दशरधुनी तनयुलनुचु, सुग्रीवु कानुकलु तेञ्चिचच्चेनु
कानुकलु विप्पीचूड़ा, अन्दुलो जानकी तोड़गु लुण्डे
तम्मुड़ा रम्मनुचुनु, ननु बिलिचि नाकु जूपेनु तोड़गुलु
इन्नी तोड़गुलु एरुगनु, श्रीराम अन्देलोक्कटे एरुगुदू

केरली ओक्केडु वेल्ला, कान्तुनवि प्रति वुदयमन्दन्टिनी
अञ्जनीसुतनी बिलिची, आरामुड्ङरमु चेतिकिच्ची
आगवाल्लम्नी जेप्पी, अम्पेने देवि जूड़ा
वारधि दाटि पाई, य सोक वन मेल्ला वेदकी जूची
उङ्गरमु चेति किच्ची, माणिक्यमन्दुकोनि माटलाड़ी
तिरिगी वच्ची वेगमें, श्री रामचन्द्र ला येदुय निलिचे
राज भूपाल चन्द्र, मन सीता ये विधम्मुना देत्तुनु
तल लेल्ला जड़लु गट्टी, उन्नदी हृदयमुना अग्गी रगली
तल्ली उएडेटी विधमु, तलचिते ताल शक्यमु गादया
दुःखवशमुना जेप्पिना, राघवुलु विनी मूर्च्छी बोई तेलसी
आलङ्क गुट्टु तेलसी, रावणाद्दोहिणी बलमुलार्चे
शृंगारमुनु चेसिए, तेम्मनेनु सीतनु तना एदुटाकी
तेच्चि श्रीरामुलेदुटा, निलपा अच्युतुरिडटलानेनु
पदिनेलालु चर उन्नदी, माम तो भाषिञ्चननि पलिकेनु
ओट्टू सत्यमु लेटिकि, ओ राम चिच्चु गाविञ्चुमनेनु
आकास मन्ता एत्तु, मन्टलो मा वदिने मन्टालाड़े
जगमुलु निएडु नटलु, जलमुलु तटाक मइयोप्पेनु
परम पतिव्रता गनुकनु, मा वदिना पोन्दे मा यन्ना पोन्दू
सीता श्रीरामलकुनु, सृष्टिलो कट्टि रइयोध्या पुरमु

—'अपने श्रांत पुत्रके लिए सुमित्रा ने हंसों के मुलायम पंखोंका बिस्तर बिछाया ;
रेशमी तकिए रख, उसने इस बिस्तर पर 'पन्नीरू' सुगंधि छिड़की ;
सुग्गे-सी बोली बोलने वाली एक टहलनी ने 'वट्टी' पंखा ला रक्खा !
चंदन लेप, कस्तूरी और 'पुनुगु' तथा 'जव्वादी' कटोरियों में पास ला रक्खीं;
हरी सुपारियां, तांबूल, चूने की बजाय मुक्ता भस्म, सब वहां ला रक्खे ।
चंपक फूलों में बसी हुई हवा चल पड़ी; लक्ष्मण ने बाहर का द्वार बंद कर लिया ।
चमेली-लदी हवा चल पड़ी; लक्ष्मण और ऊर्मिला सेज पर बैठ गए !

नारी का जूड़ा फिर से बांधने के लिए लक्ष्मण होशियारी से उसकी
वेणी गूंथने लगा।
'बोड्डू', चमेली और 'जाजी' फूलों से उसने वेणी का शृंगार किया ;
पान चबाते पति-पत्नी हास-परिहास करने लगे।
'मेरी बहन किस प्रकार चुरा ली गई थी ?'—तब उर्मिला पूछ उठी,
'सिंह-से बहादुर तुम वहां थे, फिर सीता कैसे चुरा ली गई थी ?
आप राम और लक्ष्मण वहां मौजूद तो थे, फिर वह रमणी कैसे चुरा
ली गई थी ?'
उर्मिला के यों पूछने पर, लक्ष्मण, इसे सुन, कहने लगा—
'काल के विधान से कोई बच सकता है क्या, स्वयं ब्रह्मा भी क्यों
न हों ?
अयोध्या से चलकर हम वहां एक पर्णशाला में जा टिके।
एक सुनहरा मायामृग उस पर्णशाला के द्वार की ओर आ निकला;
उस मृग को, पकड़ लाने की इच्छा जताती हुई तुम्हारी बहन पति
के पैरों पर झुक गई।
धनुष-बाण ले श्री राम शिकार को निकल पड़े।
धनुष कसकर उधर उन्होंने तीर छोड़ दिया, मृग ने एक अजब
आवाज़ निकाली—
'हा सीता ! हा लक्ष्मण ! !'—इसे सुन वह नारी डर गई और बोली।
उसने मुझे जाने को कहा, 'तुम नहीं जानतीं, मां ! मैं नहीं जाऊँगा
मैं बोला।
कानों में तीरों की तरह चुभने वाले कितने ही शब्द वह बोलती गई !
एक रेखा खींचकर, उसके लिए हद बाँधकर मैं भाई की ओर चला।
शीघ्र ही, रावण मायावी वेश में उधर आ गया।
'नारायण' कह, वह उस कमलिनि-सी आँखों वाली नारी के सम्मुख
आ खड़ा हुआ।
उसे हरि-भक्त समझ नारी ने उसे भिक्षा डाल दी।
जब रावण ने अपने दस सिर खोल दिए तो नारी को मूर्छा
आ गई।
अपने नीचे की धरती का टुकड़ा उखाड़, वह उसे लंका को उठा
ले गया।

सुनहरे मृग को उठाए श्री रामचंद्र आ रहे थे !
सीता को न पाकर, पर्णशाला और बन में ढूँढते-ढूँढते हम किष्किंधा पर्वत पर परम ऋषि सुग्रीव से मिले;
'हम दशरथ के बेटे हैं', हम बोले; सुग्रीव ने हमारे सम्मुख उपहार ला रक्खा।
उपहार का डब्बा खोलने पर, उसमें सीता के भूषण मिले;
'आओ तो, भइया !' यों कह मुझे बुला राम ने मुझे सब भूषण दिखाए।
'यह सब भूषण मैं नहीं पहचानता, भाई श्री राम, मैं तो केवल पैज-नियां पहचानता हूँ !
हर बार सीता को प्रणाम करते, मैं इन्हें देखता था, प्रतिदिन प्रभात समय !' मैंने कहा।
अंजना-सुत को बुला राम ने अपनी अँगूठी दी।
सब निशानियां बता, उसे सीता की तलाश में भेजा।
सागर पार जाकर, अशोक बन तलाश करने पर सीता को पाकर, अँगूठी देकर, बदले में माणिक्य पाकर, और सीता से वार्तालाप कर, शीघ्र लौट कर, वह श्री राम के सम्मुख खड़ा हो गया—
'हे राजभूपाल चंद्र ! कहिए मैं सीता को किस प्रकार लाऊं ?'
उसके सर के सब बाल जटाएं बन गए हैं; उसके हृदय में आग जल रही है।'
उस माता की दशा का विचार एकदम असहनीय है।
दुःख के वश में जब वह यों बोला, इसे सुन राघव को मूर्छा आ गई।
फिर उस लंका का भेद जानकर, रावण को अक्षौहिणी सेना सहित विध्वंस कर दिया !
'सजाकर सीता को यहां लाओ,' उन्होंने हुक्म दिया।
लाकर जब सीता को श्री राम के सम्मुख खड़ा किया गया वह बोले—
'दस मास कारावास में थी यह, मैं इस नारी से बात न करूँगा !'जब वह यह बोले,
'सत्य की सौगंद क्यों खाऊं ओ राम, जलाओ आग !' उसने कहा।
आग की ज्वालाएं आकाश तक गईं, मेरी भौजी इस आग से खेली।
जैसे सब ओर पानी-ही-पानी हो गया, झील बन गई जैसे !

चूँकि परम पतिव्रता है मेरी भौजी, मेरे भाई का हाथ उसने फिर से पा लिया!

सीता और श्री राम के लिए ही तो सृष्टि में अयोध्या नगर बना है!'

यहां एक प्रकार से गीत का अंत हो गया है। बाकीकी चंद पंक्तियों में स्त्रियों ने अपनी बात कही है, और उर्मिला के पति लक्ष्मण में देवता की भावना प्रकाशित की है; उर्मिला का देवी रूप तो प्रत्यक्ष ही है उन के लिए, जिस पर, शायद इसलिए, अधिक कुछ नहीं कहा गया—बस उसकी लंबी नींद की ओर ही फिर से संकेत कर दिया गया है; साथ ही इस गीत का माहात्म्य बतला दिया गया है—

ता बहु क्लेषम्मुलु, ऊर्मिला तो तप्पा कुण्डा जप्पेनु
अक्करो विन्टी रटवे, नेड़ुमना ऊर्मिला सति बुद्धलु
चन्द्रमुखी तननाधुनी, एड़ाबासि पदुनालुगु एँडलापाटु
पच्ची गङ्गे नेरूग के, पबलिञ्चे तन भमिड़ी पानपु पइना
चिन्तिञ्चि चिन्तिञ्चि, मन मेल्ला अति दुःखमुनानुन्टिमी
अइना कार्यमुकु मनमु, चिन्तिञ्चि कारणमु लेदु इङ्का
ऊर्मिला विरहम्मुलु, इदियवरू पाड़िना विन्नागानी
श्री विष्णु कैवल्यमु, सौमित्री विष्णु लोकमु निच्चनु

"जो-जो कष्ट भोगे थे, उर्मिला को सब कह सुनाए, बिना एक भी भूल के।
ओ बहिनो! तुमने सुनी क्या आज हमारी उर्मिला की बुद्धिमानी?
वह चंद्रमुखी अपने नाथ से बिछुड़ चौदह वर्ष—
पानी की एक घूँट पिए बिना, वह सोती रही स्वर्ण-पलंग पर;
चिंता करती-करती, हम सब अधिक दुखित होगई हैं!
जो बीत चुका, उस पर तो चिंता करने का कोई कारण नहीं है।
उर्मिला के विरह का गान जो कोई गायेगी, या सुनेगी,
लक्ष्मण उसे विष्णु लोक में निर्वाण देगा!'

गीत कैसा है, कितना सार्थक है, यह विद्वान साहित्य-सेवी स्वयं विचारें; मैंने तो इसे आंध्र लोक-मानस की उर्वरता के प्रतीक-स्वरूप सुना है, और आंध्र भाषा की कठिनाई को, मित्रों की सहायता से लाँघकर इसे हिंदी लिबास पहना दिया। मुझे यह सुन्दर, सरस लगा है।

उर्मिला के यह पूछने पर कि राम और लक्ष्मण सरीखे सिंह-से वीरों के होते सीता कैसे चुरा ली गई थी, लक्ष्मण ने इतनी लम्बी कहानी शुरू कर दी, यह मुझे भला नहीं लगा । इसका उत्तर तो उसने यों रूढ़ि-अनुसार एक ही कड़ी में दे दिया था—'काल के विधान से कोई बच सकता है क्या' लक्ष्मण को चाहिए थी अपनी बात कहनी और उर्मिला की सुननी ।

"लंका-यागम" नामक एक दूसरे आंध्र गीत में एक मार्के की झांकी मौजूद है । यदि वह, किसी तरह, लक्ष्मण ने अपने शब्दों में उर्मिला को दिखाई होती तो इस गीत में और भी जान पड़ जाती । यों तो इस गीत में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि लक्ष्मण बन में न सोया था, और न कभी उसने कुछ खाया था । "लंका-यागम" में मूर्छा के बाद जब लक्ष्मण फिर से युद्ध करने लायक हो जाता है तो राम कहते हैं—'मेघनाद से कौन लड़ेगा ?' उससे दो हाथ वही ले सकता है जिसने चौदह साल तक न कुछ खाया हो, और न कभी वह एक क्षण के लिए सोया हो ।' यों शायद राम को यह ज्ञात था कि लक्ष्मण ऐसा 'नियमवान' पुरुष है और वह जरूर मेघनाद को पछाड़ सकेगा; उन्हें एक सन्देह भी था । एक बार (जैसा कि जन-श्रुति से प्रत्यक्ष है) सीता और राम पंचवटी में बैठे फल खा रहे थे । सीता बोली—'पतिदेव ! हम भी कितने क्रूर हैं, निर्दयी हैं !' 'क्यों ?' राम ने पूछा, 'क्यों ?' सीता ने कहना शुरू किया, 'लक्ष्मण रोज हमारे लिए फल लाता है । रोज हमारे सम्मुख इन्हें रखकर बाहर पहरे पर जा बैठता है । हम कभी उसे नहीं पूछते कि उस भलेमानस ने स्वयं भी कुछ खाया है या नहीं !' राम बोले—'वाह ! इसमें हमारी क्या क्रूरता है ? वह खुद समझदार है । भूख लगेगी तो खुद खा लेगा ।' सीता ने उस दिन यह जिद की कि राम अपने हाथ से "अमृतपाणी" केले, जिन्हें लक्ष्मण उस दिन कहीं से उन के लिए ढूंढ लाया था, लक्ष्मण को देकर आएं । राम को पत्नी का कहना मानना पड़ा । लक्ष्मण इन्कार न कर सका; केले उसने ले लिये, पर वह उन्हें खा कैसे सकता था ? उसका व्रत था निराहार रहने का । उसे एक तरकीब सूझी । इन केलों को उसने अपनी जांघ काट कर भीतर छुपा दिया; भाई के दिये केलों को भूमि पर गिराने से भाई का अपमान हुआ होता; भूमि-पुत्री सीता को यह राज़ मालूम भी तो हो जाता । लक्ष्मण का विश्वास था कि जंघा के बीच में, उसके चरित्र-बल और भगवान् की कृपा के मेल

से, वे केले कभी खराब न होंगे, और समय आने पर वह इन्हें निकाल कर इनका उपयोग कर सकेगा ।

"लंका-यागम" गीत में राम के 'नियमवान' पुरुष की तलाश प्रकट करने पर हम लक्ष्मण को यह कहते पाते हैं—'मैं नियमवान हूं ।' वर्षों से मैंने न कुछ खाया है न सोया हूं !' राम पूछते हैं—और वे अमृतपाणी केले, जो मैंने खुद तुम्हें दिये थे ?' इस पर लक्ष्मण अपनी जंघा काट कर वे केले निकाल कर दिखाता है ।

: ४ :

उड़ीसा और आंध्र देश की सरहद पर, सन् १९३२ में, जब मैं "उर्मिला की नींद" का पहले-पहल पता लगा सका था, श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपना 'साकेत,' जो उर्मिला—रामायण की उस उपेक्षिता नारी—को हिंदी-जगत् के सम्मुख ला सकने में समर्थ हुआ है, मुझ तक पहुंचाने की कृपा की थी । यह एक विचित्र दैवयोग था ।

'साकेत' में मैंने उर्मिला को जी भर कर देखा—

अरुण-पट पहने हुए आल्हाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं
कांति की किरणें उजेला कर रहीं
खड़ी हुई हृदयस्थल में
पूछ रही थी पल-पल में
"मैं क्या करूं ? चलूं कि रहूँ
हाय ! और क्या आज कहूं ?"
आः कितना सकरुण मुख था,
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था
लक्ष्मण ने सोचा कि—"अहो!,
कैसे कहूँ चलो कि रहो
प्रभुवर बाधा पावेंगे ,
छोड़ मुझे भी जावेंगे;
रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो
यह भी मेरे लिए सहो ।"

लक्ष्मण हुए वियोगजयी
और उर्मिला प्रेममयी
वह भी सब कुछ जान गई
विवश भाव से मान गई।
श्री सीता के कंधे पर
आंसू बरस पड़े झर झर
पहन तरल-तर हीरे से,
कहा उन्होंने धीरे से—,
"बहन ! धैर्य का अवसर है"
वह बोली—"अब ईश्वर है"
सीता बोली कि—"हां, बहन
सभी कहीं,गृह हो कि गहन।"
फिर सूनी-सूनी साँझ हुई
मानों सब वेला बाँझ हुई
उर्मिला कभी तो रोती थी
फिर कभी शांत-सी होती थी
देता प्रबोध जो, सुनती थी
मन में अतर्क्य कुछ गुनती थी

"उर्मिला की नींद" की अपनी रूप-रेखा है। मुझे यह प्रिय है। और प्रिय हैं मेरे आंध्र-देशीय मित्र, जिनकी असीम सहायता से मैं यह अध्ययन कर सका—श्री सिंगराचार्य, श्री श्रीनिवासाचार्य, श्री एम० कृष्णामूर्ति और श्री एम० सुब्बारायो। चारों मित्र अभी नवयुवक हैं; पर उनके दिल कितने सजीव, यह मैं जान गया हूँ।

जन-वाणी

खेत में खड़े होकर गोफना घुमाते हुए किसान का चित्र देखकर आज का मानव चकित हो उठता है और वह शब्दों की हज़ारों वर्ष की यात्रा पर विचार करने लगता है। 'कृषाण' से 'किसान' और 'गोफण' से 'गोफना' रूपान्तर मुट्ठी भर वर्णों का खेल नहीं, बल्कि किसी-किसी भाषा में तो 'गोफण' शब्द ने 'गोफना' से अगली मंजिल पर पहुंचकर दम लिया है। पंजाबी का 'गोपिया' शब्द इसी 'गोफण' का रूपान्तर है यद्यपि कोई मनचला पंजाबी साहसपूर्वक कह सकता है कि 'गोपिया' में अधिक संगीत है, तुम अपना 'गोफण' या 'गोफना' परे ले जाओ। एक ओर यह होड़ लगी है दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो 'गोफण', 'गोफना' या 'गोपिया' तीनों को नहीं पहचानते, और वे शब्द-कोष की सहायता ढूंढते हैं। 'छींके के आकार का एक जाल जिससे ढेले आदि भरकर चलाते हैं', यह व्याख्या भी भला इन भूले-भटके लोगों के लिए कहां तक सहायक हो सकती है। किसी-किसी स्थान पर पहुँच कर 'गोफण' ने अपना चोला उतार दिया और जनता ने ढेले के सम्पर्क को उजागर करते हुए इसे 'ढेलवांस' के रूप में अपना लिया। किस-किस जनपद में 'गोफण' ने क्या-क्या वेश धारण कर लिया है इसकी पूर्ण जानकारी एक लम्बी सूची का रूप ले सकती है। परन्तु वे लोग, जो खेतों की जीवन-धारा से अपरिचित हो गए हैं, अथवा जो अपने ही देश में परदेसी बनकर रहते हैं, इस लम्बी सूची से भी क्या सीखेंगे ? इसी 'गोफना' या 'ढेलवांस' की सहायता से खेत की रक्षा की जाती है। कहीं-कहीं यह परम्परा ढीली पड़ गई है, और मिट्टी के तेल के खाली कनस्तर या टीन के टुकड़े द्वारा शोर मचाकर पक्षियों को उड़ाने की प्रथा जोर पकड़ रही है। क्योंकि 'गोफना' घुमाने के लिए भुजा में बल होना चाहिए और हृदय में उत्साह—

> गोपिया घुमाण वालिया
> तैं मां दा दुद्ध पीता
>
> —'ओ गोफना घुमाने वाले,
> तूने मां का दूध पिया है।'

पंजाब के 'गिद्धा' नृत्य में इस प्रकार आज भी गोफना घुमाने वाले की प्रशंसा में गीत गाये जाते हैं । उस समय गीत का मौलिक शब्द 'गोपिया' अपना स्वाद चखाकर गाने वालों को मुग्ध कर लेता है । सच बात तो यह है कि जिसने मां का दूध नहीं पिया, वह क्या खाकर गोफना चलाएगा । 'गोपिया' शब्द की बाहरी परिधि में घूमकर सन्तोष मान लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । 'गोपिया' घुमाने वाले ही इसके अर्थ की एक-एक बारीकी समझ सकते हैं, और जब एक बार अर्थ की समीपता में शब्द प्राणवान दृष्टिगोचर होने लगता है, उस समय यही अनुभव होता है जैसे कोई गुप्त धन-राशि हाथ आ गई, या जैसे एक अमूर्त वस्तु मूर्त्तिमान् हो उठी ।

गोपिये दा हाल वेख के
उड्डगे कबूतर गोले

—'गोफना का हाल देखकर
जंगली कबूतर उड़ गये ।'

यह भी एक पंजाबी लोकगीत है । जंगली कबूतर युग-युग से गोपिये की मार अनुभव करते आए हैं । गोफना का ढेला दूरंगम है । और यदि निशाना ठीक रहे तो बस किसी भी पक्षी की जान की खैर नहीं । और सच पूछो तो गोफना और तीर में इतना ही अंतर है कि तीर निशाना बांधकर छोड़ा जाता है, और गोफना का ढेला बे निशाने पर ही छोड़ देते हैं ।

मेरे हत्थ विच्च खरा गोपिया
तेरे हत्थ विच्च की
नी मां दिए लाडलीए
तूं दुद्ध मलाई पी

—'मेरे हाथ में खरा गोफना है,
तेरे हाथ में क्या है ?
अरी मा की लाडली बिटिया,
तू दूध मलाई पीती रह ।'

इस प्रकारकी प्रतिध्वनी पंजाबी लोकगीतकी विशेषता है । ढूंढनेसे गोफना का गान और स्थानोंपर भी मिल जायगा । यही तो लोकगीतके विस्तारकी युक्ति है, यही विस्तार लोक-चिरंजीवी कविता का प्रतीक हैं, यही इसके संचारी रसकी प्राण-प्रतिष्ठा है । स्वर और शब्दका संगम कहां नहीं है? जब लोक-मानस आनन्द

से गद्गद् हो उठता है, या जब वेदना का सोता बहने लगता है, लोकगीत की महती परम्परा बलवती हो उठती है। लोकगीत की अनेक परतें हैं, जिन्हें आस्थावान व्यक्ति ही खोलकर देख सकते हैं। आस्था न हो तो अध्ययन अधूरा रह जाता है। आस्थाके साथ-साथ धैर्य भी चाहिये। सच पूछो तो आस्था, धैर्य और प्रयत्न तीनों ही आवश्यक हैं। ऐसे जागरणशील अध्ययन का व्रत कोई विरला ही ले सकता है। लोकगीत के द्वार पर पहुंचकर कोई रीता नहीं लौटता। अमृत भावों के शत-शत कल्लोल स्वर और शब्द के संगम पर ही शोभा देते हैं। लोकगीत दूर से बुलाता है और विश्वभुवन का अभिनन्दन करता है। स्वर स्वयं अपना परिचय देता है, और शब्द की अर्थश्री सोने में सुगन्ध की मर्यादा प्रस्तुत करती है। रस का अजस्र प्रवाह, यही लोकगीत का आदर्श है। नितान्त सत्य का आवाहन, यही इसकी अभिव्यक्ति है। स्वर फुहारा है, शब्द जल है, स्वर और शब्द में सम्पर्क स्थापित कराने वालों को शत शत प्रणाम। हे गायक, कभी स्वर का परित्याग न करना।

—'कर ले मौज बहारियां
दोइ दोइ मन के बीच'

यह लोकमानस की वाणी है। यही दो मन जीवन-सरिताके दो कूल हैं। इन्हीं दो मनों के बीचों बीच प्रेमी अपने स्नेह की अमरकथा रचते हैं। हिन्दी लोकगीत में पनिहारिनों द्वारा प्रश्नोत्तर के रूप में गाई जाने वाली हिरन और हिरनी के प्रेम की गाथा इन्हीं दो मनों की कविता है—

—'छिपा न देखूं पारधी,
लगा न देखूं बान,
मैं तोहे पूछूं हे सखी,
हुन किस विधि तजे परान ?'
'जल थोरो प्रीति घनी,
लगा नेह का बान;
तुइ पिउ, तुइ पिउ, कह मेरे,
हुन इस विधि तजे परान।'

यहां एक पूरा चित्र उपस्थित किया गया है। गांव के बाहर कुआं है। जहां पनिहारिन घड़ा टिकाती है, वहां छिछला गड्ढा-सा बन गया है। जिसमें प्रायः पानी भरा रहता है। यहीं रात्री के समय हिरन और हिरनी का जोड़ा आ

निकला। हिरन चाहता था पहले हिरनी प्यास बुझा ले, हिरनी चाहती थी पहले हिरन को यह अधिकार मिलना चाहिए। अतः तुम पियो तुम पियो की रट लगाते हुए हिरन और हिरनी ने प्राण त्याग दिये। पनिहारिन चकित हैं। न कहीं शिकारी छिपा हुआ है, न हिरन हिरनी के किसी अंग में बाण ही लगा है। फिर वे कैसे मर गए ? यह कोरी कल्पना नहीं। हिरन और हिरनी दो प्रेमियों के प्रतीक हैं।

सुदूर हिमालय के उस पार तिब्बत में भी 'दोइ दोइ मनके बीच' प्रतिध्वनि सुनाई देती है। इस अपरिमित प्रेम के शब्द चित्र देखकर मानव आत्मा गद्‌गद्‌ हो उठती है। यद्यपि इसमें विषाद की रेखा भी उभरती प्रतीत होती है—

सो-ो-ो ङोन-पो द्‌ब ले थोङ् ला-ा दुइ
थिय-पो चे पा डन् ला-आ जुङ
नग-पो छेर-मा शू (ला-आ) दुइ
सेम्‌-पा चो-ले मि आ-दु
सो-ो-ो सेम्‌-पा चो-व-म-ला-आ नङ्
रि-सङ् मुग-पा सें-ला-ा मो
मुग् पा तङ्-वह्- योई-ला-ा सु
क्यि-पो ले-का यो-ला-ा डो
सो-ो-ो जोम्‌-बा पङ्-गी ग्यन् ला-ा रे
पङ्-गी मे-तोग कर ला-ा पो
पङ्-ला जो वा म ला-ा तोङ्
यु डा ले-क्थी खोर ला-ा योङ्

—'हरी पत्तियों को देखते समय,
सुखी होने की स्मृति आ जाती है।
काले कांटों के लगते समय,
चित्त में वेदना ही शेष रह जाती है।
चित्त को दुःखित मत करो,
यह घटा जैसी सुन्दर पर्वत कन्या है।
घटा फट जाने पर—
सुन्दर भाग्य-सूर्य का उदय हो सकता है।
चंवरियां हरित उपत्यका का भूषण हैं।

हरित उपत्यका में श्वेत पुष्प हैं।
यदि इस हरित उपत्यका को हानि पहुँची
तो फ़ीरोजे जैसा भाग्य-भंडार खुल जायगा।'

मैं इस महत्वपूर्णतिब्बती लोकगीत के लिए श्री राहुल सांकृत्यायन का ऋणी हूँ।

लोकगीत जन्म-जन्मके अनुभवोंकी नींव पर निर्मित होता है। ऋतुओंका चक्कर तो चलता ही रहता है। हरी पत्तियों को देखकर सुखी होनेकी स्मृति आ जाती है॥ नीचे उपत्यका में एक पर्वत-कन्या रहती है, जिस पर कवि का मन अटक गया है। यह घटा जैसी कन्या है। कवि सूर्यका आवाहन कर रहा है, जिसके प्रकाशमें कन्या की रूप-राशि उज्ज्वल हो उठी। धन्य है वह उपत्यका, जहां यह कन्या रहती है। अरी ओ उपत्यका, तेरा तो हरित रूप है यदि तुझे हानि न पहुंची, तो फ़ीरोजे की-सी छटा दूर-सवाई सुन्दर प्रतीत होने लगेगी।

छोटा नागपुर में मुण्डा जाति का 'सरहुल गान' जो वसन्तोत्सव की काव्यमयी भूमि पर पनप उठा है, भारतीय लोकगीतों के भाईचारे में बहुत ऊंचा स्थान रखता है—

ईसू दुकू सुकू तेबू तेवाः नाम तदा
सोना लेकन बाह-चण्डः भूलूआकना
जाना बोबू सुसुनारे सोंगोती गातिम्
कारेबु बपागेया पिरिति संग इंग
ने हातु लालारे बु तोनोमकन अबू
ओकोये जीदो ओकोये गोजोः मेनाः बुआ
जनाबोबु सुसुनारे सोंगोती गातिम्
कोरेबू बपागेया पिरिति संगइंग
सोनालेकन बाहा चाण्ड सेनी जानरेहो
कारेबु नावेयार जदुर सुसुन
जनाबोबु सुसुनारे सोंगोती गातिम्
कारेबु बपागेया पिरिति संग इंग

—'बहुत दिनों के सुख-दुख के पश्चात्,
हमें यह सुन्दर पर्व मिला है।
स्वर्ण के समान चैत्र का

चन्द्रमा उदित हुआ है।
प्रिये, हम नित नाचेंगे,
कभी पृथक नहीं होंगे।
संयोगवश हम इस ग्राम में उत्पन्न हुए हैं।
जीवन का क्या ठिकाना ?
न जाने किसे जीना है, किसे मरना है।
प्रिये हम नित-नित नाचेंगे
कभी पृथक नहीं होंगे।
जब यह स्वर्ग समान चैत्र का
चन्द्रमा अस्त हो जायगा,
फिर यह 'जदुर' नृत्य नहीं मिलेगा।
प्रिये हम प्रतिदिन नाचेंगे,
कभी पृथक नहीं होंगे।'

'सरहुल' मुण्डा जाति का प्रधान पर्व है, और सामूहिक नृत्य इसकी चिरंजीवी रूपरेखा में रंग भरता है। समस्त मुण्डा प्रदेश पूर्ण चेतना से जाग उठता है।

पौधा लगाते समय उसमें समग्र वृक्ष का आदर्श निहित रहता है। जब भी कोई नया गीत जन्म लेता है, उसमें अतीत की समग्र गाथा भविष्य का पथ जोहती है।

एक मुण्डा लोकगीत में प्रेम की महती कविता का सहज लावण्य देखकर भला किस महान् कवि का हृदय गद्गद् नहीं हो उठेगा—

होरार साराजोम-बा लेसेकेन लेसेकेन
हातुर डिंडाकड़ी मोचोकेन मोचोकेन
लेसेकेन लेसेकेन तिटेहोकागेते वागो
मोचोकेन मोचोकेन काजिहोक--एनपयुमें
तितेहो कागेतेवागोवाको हो कोलाइये
काजिहो क-एकपयुम दूतम हो तोलाइये
वाको हो तोलाइया वाकोहलूअजन
दूताम हो कूलअइअ होराते खड़ा लेना

—'पथ में शाल वृक्ष का पुष्प बड़ी
सुन्दरता से डोल रहा है।

ग्राम में कुमारी कन्या मुस्करा रही है ।
सुन्दरता से डोलते हुए पुष्प तक हाथ नहीं पहुंचते ।
मुस्कराती हुई कुमारी बात नहीं सुनती ।
जहां हाथ नहीं पहुँचता लग्गी में अंकुश बांध दो ।
जो बात नहीं सुनती उसके पास अगुआ भेज दो ।
अंकुश बांधा पर टूट गया ।'

परन्तु एक न एक दिन यह कुमारी कन्या अवश्य 'दौई दौई मन के बीच' का संदेश सुन लेगी, और निश्चय ही उसके हृदय में भी कुछ-कुछ वैसे ही भाव जाग्रत हो उठेंगे जो एक मैथिली लोकगीत की भाव भूमि पर हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं—

—'कोइली बोले रे हमरी अटरिया,
सूतल पिया के जगइले हो रामा
आन दिन बोले कोइली सांझ भिनुसरवा
आज काहे बोले आधी रतिया,
सूतल बालम के जगइले कोइलिया ।''

लोकगीत में देश की जन-वाणी सुरक्षित है । ग्राम का प्रत्येक दृश्य यहीं मिल जायगा, वैसे ही जैसे दो बांसरियों के मेल से बनाये गए अलगोजे पर गाते हुए ग्रामीण या सारंगी पर भड़कीले स्वरों में कई पुरातन गाथा छेड़ने वाले घुमक्कड़ गायक, या खेत में खड़े होकर गोफना घुमाते हुए किसान का दृश्य, जिसे हम बहुत कुछ भूल से गये हैं ।

सात

काश्मीरी संस्कृति और कविता

काश्मीर के प्रधान मन्त्री शेख अब्दुल्ला ने श्रीनगर नागरिकों को सम्बोधित करते हुए जागृत काश्मीर की गतिविधि इस प्रकार निर्धारित की है—"मैं चाहता हूँ कि मेरे यहां के लोग खुशहाल व निडर रहें, फिर चाहे उनकी गति, वर्ग व धर्म कोई भी क्यों न हो। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के बीच कोई भेद भाव न हो और सबको प्रगति करने के अवसर प्राप्त हों। बड़े शर्म की बात है कि इस्लाम के नाम पर कुछ लोग बेगुनाह व्यक्तियों पर अत्याचार कर रहे हैं, ऐसे लोग किसी भी सूरत में मुसलमान नहीं कहे जा सकते।"

हथियारों से लैस कबायली हमलावरों को काश्मीर की सीमाओंसे भगाने में प्राणों की बाजी लगाने वाली सेना को जनता का समर्थन चाहिए। शेख अब्दुल्ला जागृत काश्मीर के प्रतीक हैं। काश्मीरी जनता उनसे खूब परिचित है और अनेक दिनों से उनकी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रगट करती रही है। अतः यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि इस परीक्षा में काश्मीर सफल रहेगा और जन-शक्ति की विजय ही उसका ध्येय रहेगा।

मुझे काश्मीर प्रिय है। काश्मीर में एकान्त वन-प्रांतर, उसकी स्वच्छ झीलें, उसके पर्वत और नदी नाले, उसके घर और खेत—सभी मुझे प्रिय हैं। उसके प्राकृतिक सौंदर्यके सम्मुख नत मस्तक होने हीमें मुझे आनन्दकी अनुभूति हुई है। प्रकृति के सौंदर्य बोध की छाप काश्मीरी जनता की वाणी पर भी पड़ी है। फूल-मस्त प्रेमी के गान शत-शत पथों पर प्रतिध्वनित हो उठते हैं। स्वयं सरस्वती जनता की जिह्वा पर अपने चिर-अभिनन्दनीय स्वर छेड़ देती है। कोई ऋतु इन स्वरों से वंचित नहीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म किसी भी भाव के प्रति काश्मीरी लोक मानस का द्वार रुद्ध नहीं।

पहली बार सन् १९२७ में मैंने काश्मीर के दर्शन किए थे। तभी मैं अमरनाथ तक घूम आया था। फिर १९३९ में दुबारा काश्मीर के दर्शन हुए जब काश्मीरी लोकगीतों के अतिरिक्त काश्मीरी कवि महजूर की कविता का रसास्वादन करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्हीं दिनों मैंने 'मॉडर्न रिव्यु' में कवि महजूर के सम्बन्ध में लिखा था। मेरे साथ बलराज साहनी भी थे। हमने

अनुभव किया कि यदि महजूर आज एक कविता लिखते हैं तो एक आध पखवारे के भीतर ही वह जनताकी जबान पर होती है। बालक स्कूल जाते हुए,युवतियां धान कूटते हुए, मांझी डोंगा खेते हुए, मजदूर अपने अविराम गाने में लगे हुए—सब-के-सब उस कविता को गाने लगते हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि एक अशिक्षित देश में जहां ऐसी चीजों को छपाकर यदि बेचा जाय तो दस प्रतियों से अधिक न बिकें, उनकी कविता को विस्तारित करने की इस विधि को करिश्मा ही कह सकते हैं।

फिर तो अनेक बार काश्मीरी संस्कृति और कविता के अध्ययन के अवसर प्राप्त हुए। काश्मीर मेरे समीप आया, मैं काश्मीर के समीप गया। मित्रता के इस सम्पर्क पर मुझे सदैव गर्व रहेगा।

इधर काश्मीर की दरिद्रता बुरी तरह खटकने लगी थी—आत्म गौरव-हीनता के बारे में सटी हुई दरिद्रता प्राय: यों लगता है कि चिर सुन्दर प्रकृति मानव का उपहास कर रही है। प्रकृति और मानव के बीचोंबीच पराधीनता की दीवार और भी ऊंची उठती नज़र आने लगती। मन कह उठता—प्रकृति और मानव की इस विषमता को देखते हुए तो काश्मीर को भूस्वर्ग कहना भूल होगी। देश-देश के यात्रियों को काश्मीर की प्रशंसा करते देखकर उन पर क्रोध आने लगता। वे सब तो प्रकृति की विराट भरी समृद्धि पर ही मुग्ध नज़र आते। काश्मीर की दस्तकारियों की कलात्मकता में भी वे प्रकृति की विजय अनुभव करते। काश्मीर कला को तो वे सराहते, पर काश्मीरियों की दरिद्रता का उपचार करने का उन्हें भूलकर भी ध्यान न आता। यह सब देखकर यही अनुभव होता कि प्रतिवर्ष देश-देश के यात्री काश्मीरियों का उपहास करने आते हैं।

सत्यवती मल्लिक ने भी यात्रियों के दृष्टिकोण की आलोचना की है—

"उन यात्रियों की ही बात नहीं, जो महज़ ठंडी हवा खाने, अथवा घोड़े पालकियों पर सवार उन देव-स्थानों में पुण्य लूटने के निमित्त आते हैं और गहन वन प्रांतों की अनिर्वचनीय शोभा, और सुषमा को जहां तहां जूठन फैलाकर बिगाड़ने का ही अधिकार रखते हैं। बल्कि अपने को कलाकार, एकांतसेवी, परिष्कृत रुचि का समझने वाले उन व्यक्तियों की भी, जो कभी आसपास नीचे इधर-उधर देखना पसन्द नहीं करते।

"इन्हीं में से एक सज्जन ने कुछ वर्ष पूर्व कहा था—'आप काश्मीरी लोगों की कला और साहित्य की बात करती हैं, उन्हें तो सूर्योदय और सूर्यास्त

तक का पता नहीं ! वहां की झीलों, बनों, फूलों, पर्वतों के सौंदर्य को वे क्या जानें।"

"एक अन्य महानुभाव, जो प्रायः प्रतिवर्ष काश्मीर के उत्तंग शिखरों पर कला साधना के हेतु जाते हैं बोले, 'छी ! छी ! काश्मीरी लोग भी इन्सान होते हैं।"

"किन्तु इन आक्षेपों पर जितनी ही क्षुब्ध हुई हों, उतने ही वेग से वे जहां-तहां वनों में गूंजती ध्वनियां, वे भग्नावशेष, वे लाखों की संख्या में शहतूत के पेड़, और धानके खेत अथवा गन्दे कच्चे घरोंमें अपने देशके वृक्षों,पत्तों,फूलों आदि के डिजाइनों को चित्रित कर, बल्कि सुइयां चलाते हुए उस्तादों, संगतराशों, बढ़इयों, आदि की अनेक आकृतियां मेरे मन में उभर आई हैं।"

मैं सत्यवती मल्लिक के साथ सहमत हूँ कि काश्मीर एक दबे हुए हीरे के सदृश है, और जब-जब इसे प्रकाश में लाकर देखने का प्रयत्न किया जाय, एक नई ही चमक दिखाई देगी। इस बात पर भी हम सहमत हैं कि कुछ शताब्दी पूर्व काश्मीर अक्षयकोष का भंडार रहा है, और यही वह चमत्कारिक भूमि है जिसने कालिदास, कल्हण, विल्हण, सोमदेव, मंडन मिश्र प्रभृति अनेक महाकवियों और विद्वानों को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया। आज भी भोजपत्र और तालपत्र और काश्मीर के ही बने शुद्ध चिकने कागजों पर मोतियों से हस्ताक्षरों में शारदा देवनागरी में लिखे ग्रन्थ प्रसिद्ध पण्डित गृहों में विद्यमान हैं। काश्मीरके पुरातत्व विभागने ऐसे अनेक ग्रन्थ काश्मीरी विद्वानों द्वारा सम्पादित 'काश्मीर ग्रन्थावली' में सुरक्षित कर दिये हैं। आधुनिक काश्मीरी भाषा प्राचीन संस्कृत का ही रूपान्तर है; जो पन्द्रहवी शताब्दी से फारसी काश्मीरी, व संस्कृत काश्मीरी दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है। डा० ग्रियर्सन, डा० स्टाइन, और डा० नीव आदि विद्वानों की अमूल्य सेवाओं के फल स्वरूप काश्मीर भाषा का भाग्य उदय हुआ और काश्मीरी कविता के बहुमुखी गहन अन्वेषण से संसार के विद्वान परिचित हो पाए।

काश्मीरी संस्कृति उस समय सचमुच गौरवान्वित हो उठती है जब एक काश्मीरी दूसरे काश्मीरी को किसी सुदूर स्थान पर पहचान लेता है और बड़ी उत्सुकता से, कहता है—

'काशर छुस हतो'—अर्थात्, तुम काश्मीरी हो न ?

उस समय काश्मीरी भाषा ही दो हृदयों के बीचोंबीच पुल का काम देती है। मस्त तान के गाये जाने वाले अनेक काश्मीर गान उस समय इनके

भीतर पिघलते हुए हिमखण्डों की भाँत गातेमय हो उठते हैं। किस प्रकार उचक-उचककर वे एक दूसरे की ओर निहारते हैं, जैसे उन्हें धान के खेत याद आ रहे हों, जैसे वे फिर से अपनी जन्मभूमि के प्रपात झरने, देखने के लिए मचल उठे हों, वृक्षों से घिरी सड़कें, पुष्पों और फलों से लदे वृक्ष, नव-वसन्त सौरभ से गर्वित उपत्यका, खेतों के साथ एका हो जाने वाले किसान, कल-कल छल-छल करते झरने, स्वच्छ नील आकाश पर फैले उड़ते मेघ—ये सभी झाँकियां एक-एक करके उनकी आंखों में नाच-नाच उठतीं हैं। जैसे पूरे यौवन में प्रवाहित दो उछलती मछलियों नदियोंके संगमका दृश्य उपस्थित कर देती हैं और यों लगता है कि वे गले मिलकर एक दूसरे के कानों में कह देती हैं—हमारा एक ही उद्गम था परन्तु बिछुड़ गई थीं,आज हम फिर मिल गईं। कुछ इसी भावना से ओतप्रोत इन दो व्यक्तियों के जोमें तो आता है कि एकबारगी चिल्लाकर एक दूसरे से पूछें—'कशर छुस हतो'—तुम काश्मीरी हो न? जैसे इस एक ही प्रश्न से वे विशाल पर्वत श्रेणियों के सम्मुख नत मस्तक हो उठे हों। जैसे इसी एक उपाय से वे शस्य श्यामल धरती का आशीर्वाद प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं। जन्मभूमि का गान उनकी आत्माओं को छू छू जाता है—

—'ओ मेरे छल छलाते देश!
ओ बेंत वृक्षों के घेरे में चिनारों के नीचे की अछावल झील!
बर्फ पिघल गई!
नवीन कोपलें फूट निकलीं!
ओ नरगिस, ओ गुलाब, ओ यासमीन!
ओ विशाल बाग के फूलो!
शगूफा निकला आया।
वेदमुश्क की महक हमारे शिकारे तक आ पहुँची।
समावार में चाय की पत्तियां डाल दे, ओ मालती!
मैं डांड लेकर डोंगे को बाहर ले चलूँ, तुम चप्पू चलाना, ओ मालती!
ओ मेरे छलछलाते देश!
ओ बेंत वृक्षों के घेरे में चिनारों के बीच की अछावल झील!'

जन्मभूमि लोक कविता की परम्परा पर गर्व कर सकती है। मानव और प्रकृति की आत्मीयता के सम्मुख कोई भेदभाव नहीं टिकता। प्रकृति शान्ति का दृश्य उपस्थित करती है। संघर्ष और प्रतियोगिता में शान्ति कहां!

काश्मीरी गान काश्मीरी संस्कृति के प्रतीक हैं। जनता का मानसिक

निखार इनकी सब से बड़ी विशेषता है। सामूहिक चेतना घूम फिरकर प्रकृति पर केन्द्रित हो उठती है। इसीलिए तो विरहिणी को अपने जीवन का रूपक वृक्ष की टहनी में नज़र आता है—

यार चुलमय चूरि चूरि
मूरि थावनुम लोल नार

—'प्रियतम चुपके से चल दिए
मुझ टहनी में प्रेम की आग लगाकर।'

बीते यौवन का स्मरण करते समय भी काश्मीरी लोक-कवि प्रकृति के वातायन में झांकने से नहीं चूकता—

तं'ब लखित हूरि चलमय
दूरि हाविथ चूरि रुप
मिहर छा महताब छा
गुलरजार छा रुखसार छा

—'हे सखी, वह दूर से चोरी-चोरी मुंह छिपाकर
मुझको तरसाता हुआ चला गया।
वह सूर्य था, या चन्द्रमा, या उपवन, या कोंपल !'

'मुरली का गान' काश्मीरी लोक संस्कृति और कविता की सुन्दर वस्तु है। इसे संसार की उत्कृष्ट लोक कविता के किसी भी प्रतिनिधि संकलन में स्थान दे सकते हैं। मूल गान का सौंदर्य अनुवाद में उपस्थित नहीं किया जा सकता। फिर भी मूल गान की रूपरेखा तो देखी ही जा सकती है—

'मुरली कहती है—मैं सुदूर वनों में निहित थी।
टहनियों और पत्तों के मध्य शोभायमान थी।
मुरली कहती है—बचपन में मेरा शरीर सीधा था।
सुनहले कानों के बुन्दों को डुलाती थी।
मैं पथ भ्रष्ट हुई और उसीका यह प्रतिकार मिला।
कि मेरे भाग्य का चोर—वह लकड़हारा आ पहुंचा।
मुरली कहती है—वह लकड़हारा क्रुद्ध होकर मुझपर कुल्हाड़ी चलाता है।
मेरे मांस की बोटी बोटी काटता है। मुझे गर्व था कि मैं सुन्दर हूँ।
बचपन के कोमल दिनों ही में वह मुझे कष्ट पहुंचाता है।
बन से लाकर वह पथ चलते दम लेने को रुकता है।

नीचे पहुँचते ही वह मुझे तरखान के हाथ बेच डालता है।
मुरली कहती है—दूर रहकर वह मुझे पलट-पलटकर देखता है।
हथौड़े और पछनी से छीलने की ओर संकेत करता है।
मुरली कहती है—जब उसने आरी से काटकर मुझे खत्म कर डाला
और खराद पर चढ़ाया तो मुझे बहुत कष्ट हुआ।
मुरली कहती है—मेरी सखियां कहां रह गईं ?
मैं उन्हें सन्देश भेजती, वे अवश्य कहीं पथ में ही रह गई होंगी।
मैं अपनी सखियों से अपना भेद कह देना चाहती हूँ।
अपना वक्षःस्थल खोलकर मैं अपना दर्द दिखाना चाहती हूँ।
मुरली कहती है—मुझे क्या हो गया ? कितना शोक मानती हूँ।
दर्द की मारी रो-रोकर फरियाद करती हूं।
मुझे गरम करके वह मेरे शरीर पर छेद करता है।
ध्यान से निहार लो मेरा कितना मांस झड़ रहा है।
मैं क्यों न अश्रु बहाऊं ! मेरे शरीर पर उसने छेद कर डाले।
अधेलों के लिए उसने अपने लम्बे-लम्बे हाथ पसारे !'

लोक कविता में अनन्त विश्व की एक प्राणता के स्वर उभरते हैं। अपूर्ण को पूर्ण में मिला देने की आकांक्षा भी देश की लोक कविता में बराबर उत्पन्न होती रही है। काश्मीर भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है। 'मुरली का गान' वाह्य जनता और अन्तर्जगत के अन्तर्द्वन्द्व का गान है।

सीधे या आड़े, किसी जनपद की संस्कृति ही वहां की लोक कविता में प्राण प्रतिष्ठा करती है। जो अवस्था लोक कविता की है, वही उच्च कविता की भी कही जा सकती है।

किसी काश्मीरीसे पूछ देखिए कि वह कहांसे आया है। 'काशीरसे'—वह उत्तर देगा। क्योंकि काश्मीर का काश्मीरी उच्चारण 'काशीर' है। काश्मीरी के लिए काश्मीरी लोग 'कौशीर' शब्द प्रयोग में लाते हैं।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' (११५० ई०) संस्कृत में है। एक दो स्थानों पर कवि कल्हण ने काश्मीरी के दो तीन शब्दों का उपयोग अवश्य किया है। इससे तो कवि की मातृभाषा की शक्ति सिद्ध होती है।

सूफी कवयित्री लल्लेश्वरी (पन्द्रहवीं शताब्दी) को काश्मीरी कविता की जननी कहना चाहिए, यद्यपि काश्मीरी लोक कविता की श्रुति परम्परा इससे बहुत पुरानी है। लल्लेश्वरी को 'लल्लादे' भी कहते हैं। वह वेदांत की पंडिता

थी। उसे हिन्दू और मुसलमान दोनों समान श्रद्धा से स्मरण करते हैं। लल्लेश्वरी ने एक स्थान पर ये भाव प्रकट किये हैं—

—'अनादि से हम आए, अनन्त में हमें जाना है
दिन रात हमें चलते रहना चाहिए
जहां से आए वहीं जाना है
कुछ नहीं, कुछ नहीं, यह संसार कुछ नहीं।'

आधुनिक काश्मीरी कवियों में महजूर ने सूफी विचार धारा या वेदांत का आश्रय नहीं ढूंढा। सरल, विनयशील, गंभीर कवि होकर भी महजूर विनोदी प्राणी है।

'ग्रीसकूर' (किसान कन्या) महजूर की लोकप्रिय कविता का शीर्षक है। इस चित्र में कवि ने बहुत समझ सोचकर रंगों का प्रयोग किया है—

—'ओ फूलों से भरे बन के समान,
बाग से लेकर गूंथे गुलदस्ते के समान,
ओ सुन्दरी, ओ सुकुमारी, ओ किसान कन्या,
ओ स्वर्ग की हिममाला और बागों की परी,
ओ सुन्दरी, ओ सुकुमारी, ओ किसान कन्या,
ओ स्वतन्त्र बन की पुष्पलता.
तुम्हारी कलियां सुगन्ध से किसने भर दीं ?
इन्द्र धनुष के सात रंग तुम्हें किस रंगरेज ने प्रदान किये !
ओ सुन्दरी, ओ सुकुमारी, ओ किसान कन्या !
अपनी आस्तीनें ऊपर किये
खेत में मधुर गान गाते मैंने तुम्हें देखा,
काम करते-करते तुम्हारी बाहें थक तो नहीं गईं ?
ओ सुन्दरी, ओ सुकुमारी, ओ किसान कन्या !'

आज काश्मीर की परीक्षा हो रही है, जबकि उसकी सीमाओं पर कबायलियों के आक्रमण के कारण धरती रक्तरंजित हो रही है। काश्मीरी कवियोंकी कविता काश्मीरी संस्कृति की इस संकट की बेला में निश्चय ही वीरोचित भावों की अभिव्यक्ति करने लगी होगी।

अब बचपन के वे भोले दिन कभी के बीत गए। अठारह-उन्नीस वष का लंबा समय बीच से गुज़र गया। चंदी का विवाह हुए नौ साल हो चुके हैं। उमर के साथ ही चंदी की गीति-काव्य.की दुनिया, जहां'वीर-प्यार' सदा सुरक्षित रहेगा, और भी पवित्र होती जा रही है।

चंदी स्वयं गीत-रचना में कुशल नहीं है। पर मैंने यह देखा कि वह अपनी माँ से सीखे हुए गीतों को इस शौक से गाती है, जिससे शायद कोई कवि अपनी नई रचना का गान भी न कर सकता हो। उस नारी की भाँति जो अपनी पड़ोसिन के शिशु को अपनी गोदी के लाल से कहीं अधिक प्यार करती हो, चंदी इन गीतों को अपने हृदय में स्थान देते समय यही समझती है कि ये गीत बने ही उसके लिए हैं। गीत तो उसने और भी बहुत सीख रखे हैं, पर 'वीर-प्यार' के गान में तो हमारे गाँव की एक भी लड़की उससे होड़ नहीं ले सकती।

चंदी के गीतों में बहन का खुला दिल देखकर मुझे कई बार चार्ल्स-लैंब के वे शब्द याद आ गए है, जो उसने 'मेरी' के रेखा-चित्र में प्रयोग किए थे : "संसार में जितने मनुष्यों से मैं परिचित हूँ, सभी स्वार्थी हैं, पर मेरी में स्वार्थ का एकदम अभाव है। मैं स्वर्ग में रहूं या नरक में, मेरी मेरा साथ देगी। ऐसा लगता है कि बहन बनने के लिए ही उसका जन्म हुआ है।" और जिसने पहली बार यह कहा था कि नारी द्वारा ही प्रकृति पुरुष के हृदय पर अपना संदेश लिखती है, बहन के व्यक्तित्व को भी ज़रूर परख लिया होगा।

पिता को लोकगीत में 'धर्मी बाबल' कहा गया है; 'लखिया' या 'लख-दाता' एक दूसरा शब्द है, जिसे अमीर-ग़रीब की पुत्रियों ने एक ही रूप में अपनाया है। माँ वह पसंद की गई है, जो बेटी का सुख-दुख सुन सके, और जिससे बिना संकोच के हर बात कही जा सके। ऐसे माता-पिता की उपस्थिति में भी माँ-जाये भाई के बिना, एक 'वीर' के बिना, पंजाब की लड़की अपनी दुनिया को सूनी ही समझती है। यह ठीक है कि वह 'तारों में चाँद' सरीखा वर चाहती है, और शताब्दियों से गाती आई है, "जियों तारेयाँ चों चन्न, चन्नाँ चों कान्ह कन्हैया वर लोड़िये" (पिता, जैसे तारों में चन्द्रमा है, चंद्रमाओं में जैसे कृष्ण है, ऐसा वर मुझे चाहिए), पर माँ के चाँद की, 'वीर' की, प्रतीक्षा तो वह ससुराल में भी करती रही है। ससुराल का जीवन सदा सुख-पूर्ण ही मिलेगा, इसका हिसाब भी तो सदा ठीक नहीं बैठता। गीत में तो कन्या यही गाती आई है "बाबल, देईं अयुद्धया दा राज, झरोखे बैठी

हुक्म करॉं !" (पिता, मुझे अयोध्या का राज्य देना, जहां मैं झरोखे में बैठकर हुक्म चलाऊँ !), पर किस-किस को आदर्श ससुराल मिल सकती है ? जो हो, कन्या सदा मां-बाप के यहां नहीं रह सकती; 'चिड़िया' की भाँति उसे उड़ ही जाना चाहिए, ऐसा प्रकृति का विधान है। गीत ने इसकी साक्षी दी है : "साडा चिड़ियाँ दा चंबा वे, बाबल, असाँ उडु जाणा; साडी लम्मीं उडारी वे, बाबल, केहड़े देस जाणा ?" (पिता, हम तो चिड़ियों की टोली हैं, हमें उड़ जाना है, बहुत लंबी है हमारी उड़ान; पिता, बताओ तो हमें किस देश को जाना है ?)और जब वधूकी डोली ससुरालके लिए चलती है और विवाह-गान के सम्मिलित स्वर करुण हो उठते हैं, आँसुओं से भीग-भीग कर, वर भी इस करुणा में भाग लिये बिना नहीं रहता। आँसुओं के बीच में डोली आगे बढ़ती चली जाती है,सहेलियां लज्जाशीला वधूके मूक हृदयको गीतमें उतार लेती है : "असी ताँ कुड़ियाँ,चंबे दियाँ चिड़ियाँ वे लखी बाबल मेरे; उड्डीए वारो वार,वे लखी बाबल मेरे।" (हम बालिकाएं तो एक ही टोली की चिड़ियाँ हैं। लख-दाता पिता, हम बारी-बारी से उड़ जाती हैं !) वधू के हृदय में एक कसक सी उठती है, 'वीर' को संबोधन करती है : 'मैनूँ रख्ख लै रख्ख ले वीरा वे इक्को अज्ज दी रात उधारी।" (रख लो, रख लो मुझे, मेरे 'वीर', आज की रात भर मुझे उधार में रख लो) पर डोली आगे-ही-आगे बढ़ती जाती है। भाई मूक बना,आँखोंमें आँसू भर कर देखता रह जाता है। चंदी जब ये सब गीत गाती है, उसे अपने विवाह का समय याद रहता है।

यों तो संसार भर में बहन का हृदय लोकगीत की चीज़ बना है, प्रत्येक भाषा में बहन-भाई की स्निग्ध, शांत धारा, ग्राम के पास बहती नदी की-सी देखी जा सकती है; पर भारत की धरती इस कविता के लिए उपजाऊ सिद्ध हुई है। प्रांत-प्रांत में बहन ने न जाने कितना गाया है ! प्रांत-प्रांत में कन्या ने अपनी तुलना चिड़ियासे की है। गीत-शैली भी एक समान है। गुजरात,युक्त-प्रांत और राजस्थान का गीत पंजाबी गीत से गले मिला है; अन्य प्रांत भी दूर नहीं रहे। यह मानव-स्वभाव की एक समता की हर्ष-ध्वनि है। भारतीय लोकगीत के सुविस्तृत कुटुंब-क़बीले की एक-स्वरता भारतीयता और राष्ट्रीय एकता की अमर विभूति है।

सम्मिलित परिवार की परिपाटी पुरानी चीज़ है। सुख के सुप्रभात में इससे अवश्य लाभ हुआ होगा, दोपहरी के घाम में यह कितना कठिन हो उठा ! सास-ननद के अत्याचार ने जब भयानक रूप धारण किया,पंजाब की लड़की

करुण स्वरों में गा उठी--"मुंडे आपणीं थाईं रैहँदे, नी धीयाँ क्यों बनाइयाँ रब्ब ने ?" (लड़के तो सदा अपने जन्म-स्थानों में ही रहते हैं। हाय, भगवान ने बेटियों की रचना क्यों की ?) जेठानी अलग रोब जमाती है। नव-वधू रोकर रह जाती है। दुःख की बदली रोज़ उमड़ती है, रोज़ बरसती है। तब भी वह देखती है कि उसकी हिमायत में पति के मुँह से एक भी शब्द नहीं निकलता।

दुःखमें कन्याकी आँखें नैहर की ओर लग जाती हैं। भला हो हरियाली तीज का, जो प्रति वर्ष आती है, भला हो सावन के इस त्योहार पर लड़की को ससुराल से नैहर में बुला लेनेके पुराने रिवाज का, वरना दुःख का समय, अविराम और अचूक वेदनाओं का सिलसिला, 'हरे बाग की कोयल' को ससुराल की भट्टी में जल्द ही भून डालता। प्रति वर्ष ज्यों-ज्यों तीज का त्योहार समीप आता है, कन्या को वह प्रश्न याद आता है, जो विवाह के पश्चात्, डोली-विदा पर, उससे किया गया था--"बोल नी हरियाँ बागाँ दी कोयल, मापे छोड़ किथ्थे चल्लीएँ ?" (ओ हरे बाग़ों की कोयल, बोल तो सही कि नैहर छोड़ कर तू कहां चली है ?), और उसे उत्तर की भी याद आती है, जो गीत की अगली पंक्तियों में सजीव आशावाद का संकेत बना था : "बाबल मेरे ने बचन जो कीते, बचनाँ दी बद्धी मैंचल्लीयाँ; वीरे मेरे ने बचन जो कीते बचनाँ दी बद्धी मैं चल्लांयाँ; माँ सुपुत्तड़ीने दाज रंगाया,दाज पुचावन मैं चल्लीयाँ" (मेरे पिता वचन दे बैठे हैं, वचन-बद्ध होकर मैं चली हूँ। मेरे 'वीर' ने वचन दे दिया है, उसी वचन में बंधकर मैं चली हूँ। सुपुत्रवती मेरी माँ ने दहेज के वस्त्र रंगवाए, इस दहेज़ को--ससुराल में--ज़रा पहुंचाने चली हूँ)।

चित्र का एक रुख़ और भी है। खुल्लम-खुल्ला शायद कुल-वधू अत्याचार का उत्तर नहीं दे सकती, पर गीत में कहीं-कहीं विद्रोह की अग्नि भड़क उठती है--"नुगदी, ते सस्से पैर लग्ग लैण दे, तेरी गुत्त गलियाँ विच्च रुलदी !" (नुगदी की मिठाई है। मेरे पैर ज़रा जम जाने दो, सास, फिर देखना तुम्हारी वेणी गलियों में रोती फिरेगी !) सास उसे भाई की गाली देती है, तो कुल-वधू का सताया हुआ दिल बोल उठता है--"गाल भरावाँ दी, मुड़ देईं ना, कुपत्तिए सस्से !" (हे कुपत्ति--लड़ाकी--सास ! देखना अब फिर मुझे भाई की गाली न देना !) पर इतना साहस कुल-वधू में बहुत शीघ्र नहीं आ पाता। फिर वह ननद की शिकायत करती है--"मेरा भन्नता चक्की दा हथड़ा, ननद बछेरी ने।" (बछेरी-सी चंचल ननद ने मेरी चक्की का हत्था तोड़ दिया है !) मानव-स्वभाव भी बड़ा विचित्र है। भाई से इतना प्रेम रखने वाली बहन

ननदके रूप में भावजसे इतना द्वेष क्यों रखती है ! और वही खुद कुल-वधू बन कर फिर अपनी ननद की शिकायत करेगी, इससे उसे कुछ शिक्षा क्यों नहीं मिलती ? और कुल-वधू जो सास के अत्याचार से तंग रहती है,खुद सास बनती है तो अपनी पुत्र-वधू से क्यों अच्छा सलूक नहीं रखती ! तीयां (तीज) के त्योहार में बहन को लिवा जाने में ज़रा देर हो जाय, तो सास-ननद ताने देती हैं—"तेनूँ तीयाँ नूँ लैण न आये, बहुतेयां भावाँ वालिये !" (अरी ओ बहुत भाइयों वाली, देखा वे तुझे तीज में भी लेने न आए !) कुल-वधू की विद्रोही आत्मा सम्मिलित कुटुंबसे अलग हो जाने पर उतारू हो जाती है—"मैंनूँ कल्ली नूँ चुबारा पा दे, रोही वाला जंड वढ्ढ के !" (मुझे अलग चौबारा बनवा दो, निर्जन मैदान के जंड (शमी) वृक्ष को काटकर शहतीर बनवा लो) । कौन जाने उस पति पर इस आवाज का कुछ असर भी होता है या नहीं ! पर जब बहन अलग होने की बात सोचती है, उसके सामने यह ख्याल भी रहता है कि उस सूरत में वह भाई के आगमन पर स्वतन्त्रता-पूर्वक आतिथ्य कर सकेगी ।

उड़ते काग के हाथ बहन संदेश भेजती है—

उड्डदा ते जाईं कावाँ वैहँदा जाईं
वैहँदा जाईं मेरे पियोकड़े
इक्क नाँ दस्सीं मेरी माँ राणी नूँ
रोऊगी अड़िया मेरीयाँ गुड्डियाँ फोलके, मैं वारी
इक्क नाँ दस्सीं मेरी भैंण प्यारी नूँ
रोऊगी अड़िया भरिया त्रिजन वेख के, मैं वारी
इक्क नाँ दस्सीं मेरी भाबी नूं
खिड़ खिड़ हस्सूगी अड़िया पेकड़े जा के, मैं वारी
इक्क नाँ दस्सीं मेरे धरमी बाबल नूं
रोउगा अड़िया भरीयो कचहरी छोड़के, मैं वारी
दस्सीं, वे कावा, मेरे वीर प्यारे नूं
आऊगा अड़िया नीला घोड़ा बीड़ के, मैं वारी

—'काग' उड़ते-बैठते जाना,
मेरे नैहर में पहुँच जाना ।
एक तो मेरी बात माँ से न कहना,
मैं तुम पर कुरबान जाऊँ, वह मेरी गुड़िया उठा-उठाकर आँसू गिरायगी !

मेरी प्यारी बहन से भी न कहना,
मैं तुम पर कुरबान जाऊं, वह सखियों सहित चरखा कातती होगी,
बीच में मुझे न पाकर रो देगी।
मेरी भावज से भी न कहना,
अपने नैहर जाकर वह व्यंग्य-पूर्ण हँसी उड़ायगी।
धर्मी पिता से भी न कहना,
मैं तुम पर कुरबान जाऊँ
वह भरी कचहरी से बाहर आकर रो देगा।
काग, मेरे भाई से—'वीर' से—कहना,
मैं तुम पर कुरबान जाऊं, वह नीले घोड़े पर सवार होकर आयगा।'

काग सुने-न-सुने, मानव-भाषा में कही हुई बात समझे-न-समझे, उसे संबोधन करना तो अनिवार्य ठहरा। बहन का मर्मी गान क्या यों ही उड़कर, पंख पसारकर, रह जाता होगा! मनुष्य से काग का क्या कुछ भी संबंध नहीं? तब फिर वह कोठे से 'कां-कां-कां' पुकार उठता है, तो बहन यह संकेत कैसे पा लेती है कि शीघ्र ही कोई अतिथि आया चाहता है?

फिर बहन अहने नैहर की ओर जाते पथिक से कहती है कि वह उसका संदेश ले जाय; संदेश पाकर भाई आता है। समस्त नाट्य-दृश्य गीत की वस्तु बन गया है—

भाइया राहिया! जाँदिया, जानाएं तूं केहड़े देस, मैं वारी
जानाएं, बीबी, तेरे पियोकड़े, दे सुनेहाँ लै जावाँ, मैं वारी
जा आखनाँ मेरी माँ राणीनूं, धीयां क्यों दित्तीयां दूर, मैं वारी
मैं नाँ दित्तीयाँ दूर, किद्धरे दित्तीयाँ उन्हाँ दे वीर, मैं वारी
सुनीं वे वीरा राजिया, भैणां क्यों दित्तीयाँ दूर, मैं वारी
मैं नां दित्तीयाँ दूर, किद्धरे दित्तीयाँ उन्हां दे लेख, मैं वारी
अज्ज बनावाँ पिन्नीयाँ भलके सूहियाँ चुन्नियाँ परसों भैणां दे देस, मैं वारी
जाँदा वेहड़े जा वड़िया, डुलह पये भैणां दे नैन, मैं वारी
सिर दा चीरा पाड़ के पूँजाँ भैणां दे नैण, मैं वारी
सस्स पिहावे चक्कीयां, सौहरा घुटावे भंग, मैं वारी
सस्स ने लाह लइयां चंदौड़ियां, सौहरे ने लाह लये बन्द मैं वारी

'नीला घोड़ा वेच के, बनादेयाँ भैणाँ नूँ बन्द, मैं वारी
गल दा कण्ठा वेच के, बनादेयाँ भैणाँ नूँ चन्द, मैं वारी

—'राह-चलते पथिक, किस देश को जा रहे हो ? मैं तुम पर बलिहारी।'
'बीबी, मैं तेरे नैहर जा रहा हूँ, कुछ संदेश हो तो ले जाऊं,मैं बलिहारी।'
'मेरी रानी माँ से कहना, मैं बलिहारी,बेटी को दूर क्यों ब्याह दिया !'
'मैंने बेटी दूर नहीं ब्याही, मैं बलिहारी', माँ ने पथिक को उत्तर दिया, 'उसके भाई ने ऐसा किया ?'
'अजी ओ राजा भाई, सुनो तो, मैं बलिहारी,' पथिक ने पूछा, 'बहन को दूर क्यों ब्याह दिया ?'
'मैंने बहन दूर नहीं ब्याही, उसके भाग्य में ही ऐसा बदा था।
आज मैं पिन्नियां (एक मिष्टान्न) बनवाऊँगा, मैं बलिहारी।
कल को मैं बहन के लिए सूही चुनरियां रँगवाऊँगा, परसों बहन के देश पहुंचूँगा।
चलता-चलता मैं बहन के आँगन में पहुंचा, मैं बलिहारी।
बहन की आँखों में आँसू उमड़ आए। सर का चीरा फाड़कर, वस्त्र से, मैं बहन की आंखें पोंछ रहा हूँ।'
'सास चक्की पिसवाती है,' बहन बोली, 'ससुर मुझ से भंग घुटवाता है; सास ने मेरी चंदोड़ीयां उतरवा लीं, ससुर ने एक दूसरा आभूषण, चंद, ले लिया !'
'अपना नीला घोड़ा बेचकर, मैं बलिहारी, बहन के लिए बंद गढ़वा दूँगा; अपना कंठा आभूषण बेचकर, बहन के लिए चंद बनवा दूँगा।'

कल्पना का रुपहला छोर लोकगीत को कितना छू-छू जाता है। भाई की प्रतीक्षा में खड़ी बहन क्षितिज की ओर निहारती थकती नहीं; लोचन भर-भर आते हैं; जीवन की डाल-डाल हिलती है, डोलती है। बहन की भी कितनी महान् आत्मा है ! ससुराल के बंदी जीवन की शिकायत वह भाई के सिवा और किससे करे ? अतीत का यह अमर पृष्ठ, बहन का हृदय, वृक्ष से झरते पत्ते की भाँति कांप उठता है, तब कहीं जाकर भाई का नीला घोड़ा नज़र पड़ता है।

यों तो कल्पना के संसार में बहन अनेक बार भाईसे मिली है। बटलोही में खीर पकने चली है। और बहन इस बटलोही को पुकार कर कहती है—

उब्बल उब्बल, बलटोहिये नीं, लप्प चौलाँ दी पावाँ
जे वीर डिठ्ठा आयों दा, लप्प होर वी पावाँ
जे वीर आया रौड़े, रोड़े हूँज सटावाँ
जे वीर आया गलियाँ, पट्ट दरियाइयाँ विछावाँ
जे वीर आया वेहड़े, रत्ता पलँघ डहावाँ
जे वीर मंगे पानी, भूरी मज्झ चुवावाँ
जे वीर मंगे रोटी, गिरी छुहारे खुआवाँ
जे वीर बैठा चौंके, भांडियां रिशमां छड्डियाँ
जे वीर अन्दर वड़िया, दीवा लट लट बलिया
जे वीर चढ़िया कोठे, बाला चन्द वी चढ़िया

—'उबल, बटलोही, उबल, ले अभी मैं तुझमें मुट्ठी भर चावल डालूँगी।
'वीर' के आने की ख़बर सुनूँगी, तो मुट्ठी भर चावल और डाल दूँगी।
'वीर' गाँव के मैदान में पहुंचेगा, तो पथ के कंकर उठवा फेकूँगी।
'वीर' गली में पहुंचेगा, तो पथ में रेशम और दरियाई के बस्त्र बिछवा दूँगी।
'वीर' आंगन में पहुँचेगा, तो लाल पलँग डलवा दूँगी।
'वीर' जल मांगेगा, तो उसे तत्काल दुहा हुआ भूरी भैंस का दूध पिलाऊँगी।
'वीर' रोटी माँगेगा, तो उसे बादाम की गिरियां और छुहारे खिलाऊँगी।
'वीर' रसोई में बैठेगा, तो भोजन-पात्र किरनें छोड़ेंगे (चमकेंगे)।
'वीर' भीतर आयगा, तो दीपक और भी प्रज्वलित हो उठेगा।
'वीर' छत पर चढ़ेगा, तो आकाश पर दूज का चाँद निकल आएगा।'

बटलोही में कोई मानव-हृदय ढूँढ़ा गया है। उबलते दूध को सुना-सुना कर सब बात कही गई है, और दूध में पकते चावल का एक-एक दाना आत्मीयता के धागे में पिरोया है। आतिथ्य का आदर्श बाँधा है केवल बहन से ही किरनें नहीं निकलेंगी, रसोई के पात्र भी दुगनी-तिगनी चमक ले उठेंगे, जैसे वे बहन के भाई का स्वागत करना अपना धर्म मानते हों। दीपक भी दिल रखता है, बहन के भाई को पहचानता है, और वह जानता है कि भाई के भीतर आने पर उसे अधिक प्रकाश करना चाहिए। और वह आकाश का चाँद भी बहन-भाई

के मिलन के नाट्य-दृश्य में भाग लेने से नहीं चूकता, वह केवल आदमी की दुनिया पर चमकता ही नहीं, लोकगीत के परिवार से खूब परिचित भी है।

भाई की प्रतीक्षा में बहन ससुराल को छूकर बहती रावी के तीर पर एक नई कुटिया बनाने पर तत्पर होती है—

असीं रावी ते घर पाइए, सस्सू जी, जे कोई आवे साडे देस दा
सौ आवे सठ्ठ जावे, सस्सू जी, इक्क न आवे अम्मा जायड़ा
जी मैं चढ़ चुबारे कत्तदी, वीर निल-घोड़ी असवार, मैं वारी
जी मैं छड्ड पूणीं गल लगगदी, वीरा, वर्हियाँ दे विच्छड़े मिल पये मैं वारी
भैण ने दुख्ख सुख फोलिया, वीरे दे डुल्हदे नैन, मैं वारी
वीरा, वे नैन डुल्हेदिया, तेरी वे रोवे बला, मैं वारी
तूँ घोड़े मैं पालकी, चल्लांगे हंसां दी चाल, मैं वारी

—'सास जी, कोई मेरे देश का पुरुष यहां आए तो मैं उसके लिए रावी पर नया घर बनवा दूं।
सौ आते हैं, साठ जाते हैं, एक मेरा माँ-जाया ही नहीं आता!
चौबारे में बैठी मैं सूत कात रही हूं, नीली घोड़ी पर सवार 'वीर' आ रहा है, मैं बलिहारी!
बचती पूनी चरखे पर ही छोड़कर, मैं 'वीर' के गले लगूँगी, मैं बलिहारी!
बहन ने दुःख-सुख खोलकर सामने रख दिया, तो 'वीर' के नयन उमड़ पड़े।
ओ जी उमड़े नयनों वाले 'वीर', तुम्हारी बला रोये, मैं बलिहारी।
तुम घोड़े पर सवार होगे, मैं पालकी में बैठूँगी; हंस चाल से हम चलेंगे।'

जैसे यह गीत गाँवके पाससे गुजरती रावीको सुना कर गाया गया हो। रावी के किनारे बैठकर कितनी बहनों के आँसू उमड़े होंगे! रावी की लहरों में कितने आँसुओं ने शरण ली होगी! इतने शोकाश्रु रावी कहां ले जा रही है? बहते जल को तो आगे बढ़ना होता है, कोई इसमें आँसू मिलाए या मुस्कान की सुनहली किरण, पर क्या बहता जल कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता?

सखियों के बीच सूत कातती बहन, चरखे के एक-एक फेर में, एक-एक

तार में, भाई की बाट ही तो जोहती है। यों तो एक-एक करके अनेक दिन गुज़र जाते हैं, भाई नहीं आता; फिर एक शाम ऐसी भी तो आती है, जब भाई को आ ही जाना चाहिए, और जब तारों की झिलमिल मिलन के पृष्ठचित्र को सजीव बना देती है:—

संझ पई तरकाला पइयां, झिम्मी उत्ते बूंदां पइयाँ
चारे चरखे चुक्को सहेलियो, तारेयां झिरमल लाया
उठ्ठ कुड़े तूं केहड़ी कुड़े वीर तेरा नी आया
आवंदड़ा चढ़ पंलघे वैहंदा लस्सी कच्ची दा तरहाया
लस्सी कच्ची मेरी वरती जांदी, कढ़दा दुद्ध पयाया
पीलै पीलै अम्मां-जाया लप्प कु मिट्ठा पाया
हेठां गड़वा उत्ते कटोरा पी लै वे अम्मा-जाया
आंढनां गुयांढनां पुच्छन लग्गीयां वीरा की कुज्झ लिआया
झुग्गा चुन्नी मैंहदी मौली सिर नूं फुल्ल लिआया

—'शाम हो आई। अँधेरा छा गया। 'झिम्मी' पर वर्षा की बूँदें पड़ गईं।
चलो अब चारों चरखे उठाकर रख दें, सखियो, तारों ने कैसी झिलमिल लगा दी है !
'उठकर खड़ी हो जा, बहन, मैं—तेरा 'वीर'—तेरे घर आया हूं।
आते हीमैं पलंग पर आ बैठा हूं, मुझे प्यास लगी है, कच्ची लस्सी पिला।
'कच्ची लस्सी तो शेष हो गई,' बहन बोली, मैं तुझे कढ़ता दूध पिलाती हूं
लो पीलो मा-जाये, मुट्ठी-भर मीठा डालकर लाई हूँ।
नीचे गड़वा भरा है, ऊपर कटोरा, जी भर दूध पीओ।'
पड़ोसिन पूछ रही हैं—भाई क्या क्या लाया है ?
ये कमीज़, चुनरी, मेंहदी, 'मौली' और सर के लिए फूल भाई ही तो लाया है !'

और जब भाई के आतिथ्य में बहन को स्वतन्त्रता नहीं मिलती, सास नाक सिकोड़ती है, बहन के हृदयसे एक आह निकलकर रह जाती है : "सस्से, तेरी खण्ड मुक्कगी, जद वीर मेरे घर आया।" हाय, सास, जबभाई मेरे घर आया, तो तुम्हारी खांड ख़तम हो गई !); या जब सास घी की कंजूसी करती है तो क्रोध में बहन का शाप बेचारी भैंस पर जा पड़ता है : "सस्से, तेरी बूरी मरजे, मेरे वीर नूँ सुक्की खण्ड पाई !" (तुम्हारी भूरी भैंस मर

जाय, सास, मेरे भाई की थाली में तुमने सूखी खांड रख दी है !)

एक गीत में भाई को मित्रों सहित बहन के ससुराल से गुज़रते दिखाया गया है। भाई आए और बहन से मिले बिना, या उसे लिये बिना, पास से गुज़र जाय, बहन यह न सह सकी। भाई ने बहाने किये, बहन ने शांति से अचूक उत्तर दिए—

वीरा, घर घर धरेकां फुल्लियाँ; चन्दा, घर घर धरेकाँ फुल्लियां
एहवां धरेकां दी ठण्डड़ी छायों, वीरा वे तूँ आ घरे
लै चल्ल माँ-पियो दे देश वे, वीरा आ घरे
किक्कुण आवां भैणे भोलिए; किक्कुण आवां बीबी भोलिए
मेरे साथी तां लंघ जांदे दूर भैणे नीं तूँ रह घरे
रह घर सस्सू जी दे कोल नी, भैणे रह घरे
तेरे साथियां नूँ घियो खिचड़ी; चन्दा, साथियां नूँ घियो
अपणे वीरे नूँ गिरीयाँ छुहारे; वीरा वे तूँ आ घरे
लै चल्ल मां-पियो दे देश वे, वीरा आ घरे
भैणे अग्गे तां नदियां डूँगीयां; बीबी, अग्गे तां नदीयां डूँगीयां
इक्क डोब लग्गे मर जायं, भैणे नीं तूँ रह घरे
रह घर सस्सू जी दे कोल नी, भैणे रह घरे
वीरा, नमीयां बनावां बेड़ियां; चन्दा, नमीयां बनावाँ मैं बेड़ियां
आपणे वीरे नूँ पार लंघावां वीरा वे तूं आ घरे
लै चल्ल मां-पियो दे देश वे, वीरा आ घरे
भैणें अग्गे तां धुप्पां करड़ीयां; बीबी अग्गे तां धुप्पां करड़ीयां
इक्क धुप्प लग्गे मर जांय, भैणे नीं तूँ रह घरे
रह घर सस्सू जी दे कोल नी, भैणें रह घरे
वीरा, नमीयां बनावां मैं छतरीयां; चन्दा नमीयां बनावां मैं छतरीयां
आपणे वीरे नूं छायों करां, वीरा वे तूँ आ घरे
लै चल्ल माँ-पियो दे देस वे, वीरा आ घरे
भैणे अग्गे तां सूलां त्रिख्खियाँ; बीबी, अग्गे तां सूलां त्रिख्खियां

इक्क सूल चुभे मर जायें, भैणे नी तूं रह घरे
रह घर सस्सू जी दे कोल नी भैणें रह घरे
वीरा, नमीयां सुआवां जुत्तियां; चन्दा, नमीयां सुआवां
जुत्तियां
मैं तां ठम्म-ठम्म करदी जावां वीरा वे तूं आ घरे
लै चल्ल मां-पियो दे देस वे वीरा आ घरे
भैणे, अग्गे तां कुत्ते भौंकदे; बीबी अग्गे तां कुत्ते भौंकदे
इक्क दन्द लग्गे मर जायें, भैणे नी तूं रह घरे
रह सस्सू जी दे कोल नी भैणे रह घरे
वीरा, मिट्ठीयां पकावां रोटीयां; मिट्ठीयां पकावां रोटीयां
मैं तां टुक्क टुक्क पौंदी जावां, वीरा वे तूँ आ घरे
लै चल्ल मां-पियो दे देस वे, वीरा आ घरे
भैणे, अग्गे तां भाबो लड़ाकड़ी; बीबी अग्गे तां भाबो
लड़ाकड़ी
इक्क बोल लग्गे मर जायें, भैंणे नी तूं रह घरे
रह सस्सू जी दे कोल नी, भैणे रह घरे
वीरा, कुच्छड़ लवांगी गीगड़ा; चन्दा गोदी लवांगी
भतीजड़ा
लोरी गावां चोहल करां, वीरा वे तूं आ घरे
लै चल्ल मां पियो दे देस वे, वीरा आ घरे

—'भाई घर-घर धरेक वृक्षों की बहार है। देखो तो, चाँद भाई, घर-घर धरेक वृक्षों की बहार है।
कितनी शीतल है इन धरेक वृक्षों की छाया ! मेरे घर आओ न, प्यारे भाई, मा-बाप के देस को ले चलो मुझे !'

'ओ भोली बहन, बीबी बहन, तुम्हारे घर कैसे आऊँ ? मेरे साथी तो बहुत दूर निकले जा रहे हैं । यहां अपने घर में रहो, सास के पास अपने घर में रहो।'

'तुम्हारे साथियों को घी-खिचड़ी खिलाऊँगी। अपने चाँद भाई को बादामकी गिरियां और छुहारे खाने को दूँगी। मेरे घर आओ ना प्यारे भाई, मा-बाप के देस को ले चलो मुझे।'

'बीबी बहन, देस के मार्ग में तो गहरी नदियां बहती हैं। तुम एक भी

ग़ोता खा गई तो मर जाओगी। यहां अपने घर में रहो, सास के पास अपने घर में रहो।'

'चाँद भाई, मैं नई-नई किश्तियां बनाऊँगी। इन किश्तियों पर मैं अपने भाई को पार करूँगी। मेरे घर आओ न प्यारे भाई, मा-बाप के देश को ले चलो मुझे।'

'बीबी बहन, आगे देस के मार्ग में सख्त धूप पड़ती है। एक ही बार घाम लगनेसे तुम मर जाओगी। यहां अपने घरमें रहो,सासके पास रहो।'

'चाँद भाई, मैं नई- नई छतरियां बनाऊँगी। अपने भाई पर मैं छाया करूँगी। मेरे घर आ जाओ न प्यारे भाई, मा-बाप के देस को ले चलो मुझे।'

'बीबी बहन, आगे देस का मार्ग तीखे काँटों से भरा है। तुम्हारे पैर में एक भी कांटा लग गया तो तुम मर जाओगी। यहां अपने घर में रहो, सास के पास यहीं रहो।'

'चांद भाई, मैं नई जूती सिलवाऊँगी। इसे पहनकर मैं ठुमुक-ठुमुककर चलूँगी। मेरे घर आ जाओ न प्यारे भाई, मा-बाप के देस को ले चलो मुझे।'

'बीबी बहन, आगे देस के मार्ग में कुत्ते भौंकते हैं। तुम्हें एक भी दांत लग गया तो तुम मर जाओगी। यहां अपने घरमें रहो,सासके पास रहो।

'चांद भाई, मैं मीठी रोटियां पकाऊँगी। रोटी के टुकड़े कुत्तों के आगे डालती चलूँगी। मेरे घर आ जाओ न प्यारे भाई, मा-बाप के देस को ले चलो मुझे।'

'बीबी बहन, देस में तुम्हारी भावज बहुत झगड़ालू है। उसका एक भी बोल तुम्हें चुभ गया तो तुम मर जाओगी। यहां अपने घर में रहो, यहीं सास के पास रहो!'

'चांद भाई, मैं अपने नन्हे भतीजे को गोद में लूँगी। लोरी गाऊँगी और मचल-मचलकर उससे खेलूँगी। मेरे घर आजाओ न प्यारे भाई, मुझे मा-बाप के देस को ले चलो।'

नारी प्यार के लिए ही उत्पन्न हुई है। मां के रूप में वह अपनी संतान से पिता से कहीं अधिक स्नेह करती है, पत्नी के रूप में भी वह पुरुष से कहीं ऊपर उठी रहती है,बहन के रूपमें वह भाई से बाज़ी ले जाती है। भाई ने सोचा था कि उसका आख़िरी बहाना काम कर जायगा,पर बहन मानव-स्वभाव से परिचित थी। उसने कहा मैं भावज को सहज ही मोह लूँगी, उसके

शिशु को लोरी देकर। झाड़ी में फुदकती गौरैयों-सा यह गीत पहले-पहल कब गाया गया था ? कितनी बार इसने भाषा का लिबास बदला होगा !

कल्पना-लोक में कितना प्रश्नोत्तर हुआ है ? प्रत्येक गीत का अपना व्यक्तित्व है। और सब गीत मिलकर एक पूरा गीत-नाट्य बना डालते हैं—बहन का हृदय कितना गा सकता है ! और जब बहन भाई का आवाहन करती गाती है—"वीरा मेरेया सवेरे दया तारेया, तीयां नूँ मैंनूँ लैजीं आन के !" (अजी ओ भोर के तारे, मेरे भाई, तीज पर मुझे लिवा ले जाना !) क्या बहन की आवाज आकाश पर के भोर के तारे की समझ में भी आ जाती है ?

बहन की उँगली पर घाव हो गया। भाई के आने की बात सुनकर उसे पीड़ा की सुध बिसर गई। तब चला आतिथ्य का नाट्य-दृश्य—

मेरी उँगली चीरी नी, कोई दस्सो दारु
वीरा, आयोंदा जो सुणियाँ, उंगली हच्छी होई
वीरा, कनक मँगाऊंणीया, सठ्ठ मण
वीरा, पीहण कराऊँणीयां, मोतीयाँ वरगा
वीरा, आटा पिहाऊणीयाँ, सुरमे वरगा
वीरा, आटा गुंन्हाँऊँणीयाँ, मलाई वरगा
वीरा, पेड़े कराऊँणीयाँ, आडुयाँ जेडे
वीरा, लुच्ची तलावाँ, वे कोई थाल जेडी
सहो सहेलीयो नी, वीर रोटी खावे
वीर खाण आया, नाल सठ्ठ जणें
वीर खाय उठ्ठिया, 'कुज्ज मंग, भैणें'
'वीरा सभ कुज्झ बथेरा वे विछोड़ा मन्दा

—'मेरी उँगली कट गई है, कोई दवा बताओ।
मैंने सुना है, मेरा भाई आ रहा है, उँगली को आराम आ गया !
भाई, मैं साठ मन गेहूं मँगवा रही हूँ। भाई, इस गेहूं को मैं मोतियों-सा साफ़ करवा रही हूं।
भाई, मैं सुरमे-सा बारीक आटा पिसवा रही हूं। भाई, मैं मलाई-सा नरम आटा गुंधवाती हूँ।
भाई, मैं आडुओं से छोटे पेड़े करवा रही हूं। भाई, मैं थाल-सी बड़ी लुच्चियां तलवा रही हूं।

सखियो, भाई को भोजन पाने के लिए बुलाओ।
भाई भोजन पाने आया, साथ में साठ मित्र थे।
भाई ने भोजन पा लिया, वह उठकर कहता है, 'बहन कुछ माँग'।
'मेरे घर सब कुछ है', बहन कह रही है, 'लंबा वियोग ही बुरा है!'

कल्पना-लोक में तो बहन जितना चाहे भाई का आतिथ्य कर ले, पर वास्तविक जीवन में वह इतनी स्वतंत्र नहीं होती। यह भी हो सकता कि वह सास की दी हुई कड़ी साँकल खोलकर भाई को अन्दर बुलाने से झिझके, पर ऐसा सदा नहीं होता—

महलां दे थल्लथल्ले जां दिया, वे मेरिया राजिया वीरा
भैणां नूं मिल घर जा, वे राम
सभनां भैणां दे वीर मिल मिल जांदे, वे मेरिया राजिया वीरा
मैं परदेसन बैठी दूर, वे राम
उट्ठके कुण्डड़ा खोल दे, नी मेरिए राणीएं भैणें
बाहर खड़ा तेरा वीरा, वे राम
सस्सू दा दित्तड़ा न खुल्ले, वे मेरया राजिया वीरा
कन्ध टप्पे घर आयो, वे राम
कन्धां ताँ टप्पदे चोर, नी मेरीए राणीएँ भैणे
मैं तां भैणां दा सका वीर, वे राम

—'महल के नीचे-नीचे जा रहे राजा भाई! बहन से मिल कर जाना।
सब बहनों के भाई मिल कर जाते हैं, राजा भाई, एक मैं परदेसन हूं, देस से इस क़दर दूर बैठी हूँ!'
उठ कर साँकल खोलो, रानी बहन, बाहर तुम्हारा भाई खड़ा है।'
सास की दी हुई साँकल मैं नहीं खोल सकती, राजा भाई, दीवार फाँद कर भीतर आ जाओ।'
रानी बहन, दीवार तो चोर फाँदते हैं, मैं तो बहन का सगा भाई हूँ!'

वास्तविकता की भूमि पर एक दूसरे गीत में बहन-भाई की भेंट का चित्र खींचा गया है—

आयो वे वीरा चढ़ीए उच्चड़ी माड़ी, मेरे कान्ह उसारी
दे मेरी मांयों दे सुनेहड़े, राम

मां तां तेरी, भैणें, पँलघे बिठाई, पँलघों पीढ़े बिठाई
हथ्थ अटेरन रंगली, राम
आयो वे वीरा चढ़ीए उच्चड़ी माड़ी, मेरे कान्ह उसारी
दे मेरी भाबो दे सुनेहड़े, राम
भाबो तां तेरी बीबी गीगड़ा जाया, भतीजड़ा जाया
उठ्ठदी ताँ वेहंदी देंदी लोरीयां, राम
आयो वे वीरा चढ़ीए उच्चड़ी माड़ी, मेरे कान्ह उसारी
दे मेरीयां सइयां दे सुनेहड़े, राम
सइयां तां तेरीयां भैणे छोपड़े पाये, वेहड़े चरखड़े डाहे
तूंहीयों परदेसन बैठी दूर, नी राम
चल्ल, वे वीरा, चल्लिए मायों दे कोल, भाबो सइयां दे कोल
चुक्क भतीजा लोरी गावांगी, राम

—'आओ, भाई, चलो ऊपर अटारी पर चलें, यह अटारी मेरे प्रीतम ने बनवाई है। अच्छा मुझे मां का समाचार तो दो।'

'माँ को तो मैंने पलंग पर बिठाया है, पलंग से उतर कर वह पीढ़े पर बैठती है, हाथ में रंगीन अटेरा लिए वह सूत अटेरा करती है।'

'ऊपर अटारी पर चलो, भाई, प्रीतम की बनाई ऊँची अटारी पर। अच्छा, भावज का समाचार तो दो।'

'तेरी भावज के बालक जन्मा है—वह है तेरा नन्हा भतीजा। उठते-बैठते वह उसे लोरियां सुनाया करती है।'

'ऊपर अटारी पर चलो, भाई, प्रीतम की बनाई ऊँची अटारी पर। हां, तो मेरी सखियों का समाचार कहो।'

'तुम्हारी सखियां मिलकर सूत कातती हैं, आँगन में चरखे जुटे हैं। अकेली तुम ही परदेस में बैठी हो।'

'चल भाई, मां के पास चलें, भावज के पास, सखियों के पास। नन्हे भतीजे को उठाकर मैं लोरी गाऊँगी !'

सावन में तो प्रत्येक बहन के भाई को आना ही चाहिए। बहन का दुःख हलका करने के लिए, कुछ दिन के लिए उसे नैहर की हरियाली तीज दिखाने के लिए—

पंज सत्त पिन्नियां पा के माये मेरिए नी
वीर मेरे नूं भेज, सावन आइया
उच्चड़ा उच्चड़ा चौंतड़ा ते सोहना मेरा वीर
खड़ी मैं उड़ीकां राह, सावन आइया
रत्ते रत्ते पीढ़े तूं बैठी अम्मां-जाइए नी
केहा मैला तेरा भेस, सावन आइया
किस दे दुक्खे तूं दुखी, मेरिये भैणें नी
कौन कहे वड्डे बोल, सावन आइया
सस्सू दे दुक्खे मैं दुखी अम्माँ-जाया वे
नणद कहे वड्डे बोल, सावन आइया
रत्ते रत्ते डोले तूं बैठीं अम्मां-जाइए नी
वीर घोड़ी असवार, सावन आइया

—'मां, पाँच-सात पिन्नियाँ (एक मिष्टान्न) उपहार में देकर, मेरे भाई को यहां भेज, सावन तो आ पहुंचा है!
ऊँचा-ऊँचा चबूतरा है, कितना सुंदर है मेरा भाई! यहां खड़ी मैं उसी की राह देख रही हूं, सावन आ पहुंचा है।'
'बहन, तू लाल पीढ़े पर बैठी है,' भाई ने पहुंचते ही कहा। 'पर तेरा भेस यों मैला क्यों है? सावन तो आ पहुंचा है!
'बहन, किसने तुझे दुखी किया है? बता तो। किसने सख्त-सुस्त बोल बोले? सावन तो आ पहुंचा है।'
'मां-जाये भाई, सास ने यों मुझे दुखी किया है। ननद ने कड़वे बोल बोले, सावन तो आ पहुंचा है!'
'मां-जाई बहन, तू लाल डोली में बैठेगी। स्वयं घोड़ी पर सवार हो कर मैं तुझे ले चलूँगा, सावन तो आ पहुंचा है!'

और फिर कुल वधू को नैहर जाने की आज्ञा मिल सकने की एक अलग समस्या आ खड़ी होती है। कई बार तो भाई की आँखोंके सामने अपना अपमान देखकर बहन की संतोषी आत्मा विद्रोही होने पर आ जाती है। पर वह क्या कर सकती है? शायद एकांत में भाई के सम्मुख ननद, सास और ससुर का बुरा तक कर, दो-चार जले-भुने शब्द कहकर, हृदय की अग्नि किसी क़दर ठंडी करती है—

सावन, नींदाँ आइयां, सस्से, सानूं पेइये पुचा
मैं की जाणां नूंहें, कन्त नूं पुच्छ के जावीं
पुछा के जावीं, झब्बे मुड़ आवीं
कन्ता कम्म करेंदेया, मैं घर आया वीर, सोने दा तीर
लुँगी पट्टदार, जुत्ती तिल्लेदार—मैं जाणां पेइए
मैं की जाणां नारे, सौहरे नूं पुच्छ के जावीं
पुछा के जावीं, झब्बे मुड़ आवीं
सौहरे पंलघे बैठिया, मैं घर आया वीर, सोने दा तीर
लुंगी पट्टदार, जुत्ती तिल्लेदार—मैं जाणां पेइए
मैं की जाणां धीए जेठ नूं पुच्छ के जावीं
पूछा के जावीं झब्बे मुड़ आवीं
जेठा खूह ते बैठिया मैं घर आया वीर सोने दा तीर
लुंगी पट्टदार जुत्ती तिल्लेदार—मैं जाणां पेइए
मैं की जाणां कुडीए नणाद नूं पुच्छ के जावां
पुछा के जावीं झब्बे मुड़ आवीं
नणादे चरखा कर्तेदीए मैं घर आया वीर सोने दा तीर
लुंगी पट्टदार जुत्ती तिल्लेदार—मैं जाणां पेइए
भाबो घर आई रूं पंजा के जावीं कता के जावीं
वटा के जावीं उणा के जावीं धुया के जावीं
रखा के जावीं झब्बे मुड़ आवीं
वीरा सुण वे मेरी नणाद दा मर गया अब्बा
मैं बन विच्च दब्बां धड़ा धड़ा पिट्टां मैं नहींयों जाणो
पेइए—वीरा तूं जावे

—'अब तो मुझे सावन की नींदें आने लगी हैं ! सास जी, मुझे नैहर पहुंचवा दो !'

'बहू, मैं क्या जानूं ? जाकर पति से पूछ ले, पुछवा ले, और चली जा। पर बहुत शीघ्र लौटना।'

खेत में काम करते कंत, मेरे घर आया है मेरा 'वीर'—सोने के तीर सरीखा, रेशमी लुंगी वाला, तिल्लेदार जूतीवाला; मैं नैहर जाऊँगी।'

'नारी मैं क्या जानूं ? जाकर जेठ से पूछ ले, पुछवा ले, और चली जा। पर बहुत शीघ्र लौटना।'

'कुएं' पर बैठे जेठ जी, मेरे घर मेरा भाई आया है—सोने के तीर सा, रेशमी लुंगी वाला, तिल्लेदार जूतीवाला; मैं नैहर जाऊँगी।'
'मैं क्या जानूँ लाड़ली, ननद की आज्ञा ले ले, पूछ-पुछवा ले और चली जा। पर बहुत शीघ्र लौटना।'
'चरखा कातती ननद, मेरे घर भाई आया है—सोने के तीर-सा, रेशमी लुंगी वाला, तिल्लेदार जूती वाला; मैं नैहर जाऊंगी।'
'भावज, अपने घर में रूई आई है, पँजवा कर जाना, कतवा कर, सूत बटवा कर जाना, बुनवा कर जाना, धुलवा कर जाना, ठीक से रखवा कर जाना, और बहुत शीघ्र लौटना।'
'ओजी मेरे वीर', बहन ने धैर्य छोड़ कर कहा, 'ननद का पिता मर गया है, मैं उसे जंगल में दफनाऊँगी, धड़-धड़ पीटूंगी। मैं नैहर न जा पाऊंगी, तुम चलो।'

एक साथ ननद ने इतने काम बताए। और वह यह भी भूल गई कि गीत की तुक का, स्वर और लय का गला घुटा जा रहा है, भारी भरकम शब्दों के बोझ से! स्वयं नारी ने नारी को कितना कष्ट पहुँचाया है! 'ननद मिट्टी की बनी हुई मूर्ति भी क्यों न हो, भावज को वह चिढ़ायगी ही'; पर यह क्यों? यहां कहीं कोई यह न समझ ले कि कुल-वधू नैहर नहीं जा पाती। "बक्करी दुद्ध ताँ दिन्दीआ, पर मींगना घोल के" (बकरी दूध तो देती है, पर मींगनी घोल कर), पंजाब की यह लोकोक्ति शायद सम्मिलित कुटुम्ब के आंतरिक व्यथा-चित्र को अंकित करनेके लिए पनप उठी थी। बोल-बुलावा होता है, कड़वी-कसैली आँखें लाल हो उठती हैं, कई-कई दिन तक मन-मुटाव चलता है। इस से क्या? एक दिन कुल-वधू नैहर जाती ही है। नैहर में आकर कन्या का हृदय फिर पहली-सी स्वतंत्रता का छोर छूता है; 'वीर' को सुना-सुना कर स्वर भरा जाता है—

पेके किस धरमी बनाए, गलियां विच्च दुड़ंगे लाये
पेके मोतीचूर दे लड्डू, जेहड़ा खाये सोई ललचाये
सौहरे किस पापी ने बनाये, उड्डदे भौर पिञ्जरे पाये
सौहरे बूर दे लड्डू, जेहड़ा खाये सोई पछताये

—'किस धर्मी ने नैहर की रचना की थी? इस की गलियों में खेली कूदी हूँ। नैहर मानो मोतीचूर का लड्डू है, जो भी इसे खाता है, ललचाता

रहता है। किस पापी ने ससुराल की रचना की थी? उड़ते भ्रमरों सी कन्याएं पिंजरे में डाल दी गई हैं! ससुराल तो निरा लकड़ी के बूर लड्डू का है, जो भी इसे खाता है, पछताता है!'

पंजाबी बहन के पास लोकगीत की थाती सुरक्षित है। पुराने पंजाब की आत्मा, जीवन की दुख-सुख से परिपूर्ण गंगाजमुनी कहानी, कल्पना और घटना का साँझा इतिहास, इन गीतों के एक-एक शब्द में व्यापक है।

पिछले वर्ष मैं अपने ग्राम में गया, तो चंदी वहां थी। "मैं यहां नैहर में आती हूं, तो तुम न जाने कहां होते हो?"—उसके ये शब्द बहन के हृदय से निकले थे। और फिर उससे अनेक गीत सुनने को मिले थे;इधर कुछ वर्षों से उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन भी हुआ है; पहले वह गीत सुना देती थी, उनका मूल्य न माँगती थी, अब वह कुछ गीत सुनाती है, तो कुछ सुनने की शर्त पहले ही लगा देती है।

जब भी चंदी गाती है, संगीतज्ञों की भाँति वह गले से कुश्ती नहीं लड़ती। उसके गीतों की सादी तानें बहन-सुलभ भावनाओं को सजीव कर सकने की शक्ति रखती हैं। और न वह गीतों की आलोचना करती है। उसे आलोचना की आवश्यकता भी क्या पड़ सकती है? वह केवल गा सकती है, लोकगीत उसका चिर-सखा है। आलोचक तो यही कहेगा कि हम इन गीतों में जो स्वयं डाल सकें, वही फिर निकाल सकते हैं। पर चंदी बहन है, और बहन के नाते इन गीतों का आलोचक से कहीं अधिक रस ले सकती है। मैंने भी उस के सम्मुख कभी आलोचनात्मक चर्चा छेड़ने से प्रायः परहेज़ किया है; हां, थोड़ी थोड़ी सरस टीका-टिप्पणी को मैंने आवश्यक समझा है; और वह इस पर झल्ला उठती है। गीत शांतिसे सुने जाने चाहिएं। इसे वह शायद एक नियमके रूपमें पेश करती है। ज़्यादा बातें बनाना,बात की ओर चुप हो रहे,यह न कर के बात की खाल उतारना, या उसके अपने शब्दों में 'गीतों की अँतड़ियां'टटोल-टटोल कर बाहर निकालना, यह सब उसे नापसंद है। समझने-समझाने से कहीं अधिक तो रस में डूबने की महत्ता है, यही शायद उसका प्रिय दृष्टिकोण है।

उसका भाई, चन्नण, उसके गीतों की ओर अब भी कोई ख़ास आकर्षण नहीं पाता, यह वह जानती है। अब वह चन्नण की शिकायत नहीं करती। चन्नण उसे नैहर ले आता है, वही उसे ससुराल में मिल भी आता है, और यह क्या कम बात है? जब चंदी गाती है—"सरवन वीर कुड़ियो, बोते चारदे भैणां नूं मिल औंदे!" (सखियो, 'वीर' हों तो सरवन से, जो बाहर ऊंट

चराने जाते हैं तो भावावेश में बहनों से मिलकर ही शाम को घर लौटते हैं!) उसका संकेत बहुत कुछ चन्नण की ओर रहता है; कई बार चन्नण ने ऐसा किया भी तो है, ऊँट चराते-चराते उसे चंदी के ससुराल जाने की सूझी, और वह शाम को, चंदी से मिलकर घर लौटा तो कोई जान भी न पाया कि वह दिन भर ऊँट चराता रहा या सफ़र करता रहा। चन्नण के ऊंट को चंदी बहुत प्रिय समझती है। कितने ही नन्हेंग इन ऊंट की प्रशंसा में बन गए हैं, और चंदी को इनसे स्नेह है—

तेरे वीर दा बागड़ी बोता, उट्ठ के मुहार फड़ लै!

—'तुम्हारे 'वीर' का ऊंट खास बागड़ की पैदायश का है, साधारण नहीं, उठकर इसकी मुहार पकड़ लो न!'

लण्डे उट्ठ नूं शराब पियावे, भैण बखतौरे दी

—'दुम-कटे ऊंट को बख़्तौरे की बैहन शराब पिला रही है।'

बोता एयों लशके, जिवें कालीयां घटां विच्च बगला!

—'ऊंट इतना चमकता है, जैसे काली घटाओं का बगुला हो!'

जेहड़ा डण्डियां हिल्लण न देवे, बोता ल्याईं ओह बीरना

—'जिस पर सवार होकर चलते समय मेरे कान की बालियां न हिलें, अजी ओ वीरन, ऐसा ऊंट मेरे लिए लाना!'

बोता वीर दा नज़र न आवे उड्डदी धूड़ दिस्से

—'वीर' का ऊंट कहीं नज़र नहीं आता, खाली धूल उड़ती देख रही हूँ!'

किते नाईयां दा टट्टू न लियाईं
बोता लियाईं सत्त सौ दा

—'देखना कहीं मेरे लिये नाईयों का टट्टू न ले आना। मुझे लिवाने आए, तो पूरे सात-सौ रुपये का ऊंट लाना!'

जदों वेख ल्या वीर दा बोता
मल्ल बाँगूँ पैर चुकदी

—'उसने 'वीर' का ऊंट आता देख लिया है, तभी वह पहलवान-सी चाल से पैर उठाती है!'

बग्गा बोता ते कन्नां तों काला
बीही विच्च आवे बुक्कदा

—'सफेद ऊंट है, उसके कान काले हैं,'
गरजता हुआ वह गली में आ रहा है !'

खालै वे वीर दिया बोतेआ
तारा-मीरा पा'ता वड्ड के

—'हे मेरे 'वीर' के ऊंट, लो खालो, तुम्हारे सम्मुख 'मैंने तारा-मीरा' काटकर डाल दिया है !'

मेरे सज्जरे बन्हाये कन्न दुखदे
हौली हौली तुर बोतिया

—'मैंने इन्हीं दिनों कान बिंधाए हैं, उनमें पहनी बालियां हिलती हैं तो पीड़ा होती है,
अजी ओ ऊंट, ज़रा धीर गति से चलो न !'

बोते तेरे निज्ज नूँ चढ़ी जुत्ती डिग्गपी सितारेयां वाली
डिग्गपी ताँ डिग्ग पैण दे, पिण्ड जाके समा दूं चाली

—'तुम्हारे ऊंट पर मैं न बैठती तो अच्छा होता। हाय, पथ में कहीं मेरी सितारों जड़ित जूती गिर गई !'
'गिर गई तो बला से, परवाह न करो, ग्राम में चलकर मैं, एक क्या चालीस जूतियां बनवा दूंगा !'

उठ्ठ आपणी जबानों बोले, न डर भैण मेरिए

—'ऊंट खुद अपनी ज़बान से कह रहा है—'बहन, चढ़ते, समय डरो मत।'

तेरे बोते दी मुहार बन जावां, स्योने दे तबीतां वालिया

—'जी चाहता है कि मैं तेरे ऊंट की मुहार बन जाऊं ! अजी ओ सोने के 'तबीत' पहनने वाले !'

ऐतकीँ दीं फसल दे दाणे, लादीं वीरा वग्गे उठ्ठते

—'इस फ़सल से जितना रुपया मिले, उससे एक सफ़ेद ऊंट खरीद लेना भाई !'

पँजां दी लियाईं लोगड़ी मैं उठ्ठ लई हार बनावां

—'पांच रुपये की 'लोगड़ी' ले आना, मैं ऊंट के लिए हार बनाऊंगी !'
और जब चंदी यह गीत गाती है, चन्नण का ऊंट उसके हृदय में बसता है। चन्नण तो उसे बहन—मा-जाई—मानता ही है, उसका ऊंट भी

तो उसे बहन कहकर पुकारता है—वह कहता है, डरो मत, प्रेम से मुझ पर सवार हो लो न, बहन!

अरब की एक लोक-कथा में यह बताया गया है कि एक क़बीले के लोग खुदा से गुमराह हो गए थे, और इसी जुर्म में वे सब-के-सब आदमी की जून से ऊंट की जून में परिणत कर दिये गये थे। पंजाब के जन-साधारण तक अभी यह कथा नहीं पहुंची।

चंदी को यह मालूम नहीं कि उसके ये गान जीवन में सदियों तक नहीं टिकने के, यों किताबों में भले ही बन्द हो जायं। ज़माना बदल रहा है, चीज़ों की क़ीमतें बदल रही हैं। खुद जन-साधारण में भी अपने त्योहारों और गान-नृत्य आदि में पहली-सी श्रद्धा और आस्था नहीं रही; गाते वे अब भी हैं, पर वह पहली-सी बेफिकरियां, वह अवकाश की शांत घड़ियां, अब कहां हैं?

हमारा साहित्य क्या बहन का गीत नहीं सुनेगा? लोक-गीत के प्रति यह उपेक्षा का भाव कब तक बना रहेगा? कब हमारे देश में कोई पुश्किन जन्म लेगा, कोई रौबर्ट बर्न्स, कोई येट्स! बहन का गीत किसी अमर साहित्यसेवी के पारस-स्पर्श की प्रतीक्षा में मेरे घर के पास के नीम के पत्तों की तरह क्या यों ही झर जायगा?

नौ

सन् सत्तावन के गीत

पहाड़ी प्रदेश का चित्रण करते हुए श्री अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा है—'नयी धूप में चीड़ की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच-बीच में बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़ के भी हृदय है, जंगल के भी हृदय है......दिन में पहाड़ की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त; पर सांझ के आलोक में जैसे लाल ही पहले काला पड़ जाता है। हीली देख रही थी, बुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहां अंधकार-लीन होगये हैं, जब कि चीड़ के वृक्षों के आकार अभी एक दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते थे। क्यों रंग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जब कि परिपार्श्व की एक रूपता बनी रहती है।'

यह बात इतिहास के बारे में भी इतनी ही सत्य है। वे सब घटनाएं जो वर्तमान के प्रकाश में बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूलों के समान महत्वपूर्ण और आकर्षक नजर आती हैं धीरे-धीरे अतीत के आंचल में अदृश्य होने लगती हैं। परिपार्श्व की एकरूपता में खोई हुई घटना-लिपि को पढ़ने के लिए यथेष्ट यत्न करना पड़ता है। इतिहास के पन्ने उलटने होते हैं। परवर्ती साहित्य की छानबीन किये बिना भी काम नहीं चलता। महत्त्वपूर्ण घटनाओंकी यह विशेषता है कि वे अपने पीछे अपना प्रभाव अवश्य छोड़ती है। वर्त्तमान को अतीत के आंचल में अदृश्य होने से रोकने की हिम्मत किसीमें नहीं। कहते हैं समय के रथ का एक ही पहिया होता है जिसकी धुरी कभी गरम नहीं होती,अर्थात् इस पहिये का रुकना असम्भव है। महत्त्वपूर्ण घटनाओं की स्मृति में मानव स्मारक-शिलाएं खड़ी करता है, और अन्य शत-शत यत्नों से समय के रथ की गहरी रेखा की ओर जीवन-डगर में चलने वालों का ध्यान खींचता है।

सन् १८५७ का विद्रोह भारतीय इतिहास में विशेष स्थान रखता है। इसके बारे में सोचने लगता हूँ तो सबसे पहले मुझे बचपन के दिन याद आने लगते हैं जब मैंने अपने पितामह के मुख से इस विद्रोह के संबंध में आँखों-देखा समाचार सुना था। मुझे याद है कि वह किस प्रकार सन् सत्तावन की

बातें सुनाते-सुनाते सिर को गर्व से ऊंचा उठाकर कह उठते थे—क्या हुआ यदि देश इस विद्रोह में असफल रहा? एक दिन देश इससे कहीं अधिक बल-पूर्वक स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ेगा, और दुनिया देखेगी कि हम भी स्वतंत्र हैं, और हम भी स्वतंत्र देशों की शक्ति में खड़े हो सकते हैं।

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'सन् ५७ और परवर्ती हिन्दी साहित्य' शीर्षक लेख में इस बात पर ज़ोर दिया है कि यद्यपि ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में एक प्रकार की शांति स्थापित हो गई थी और अनेक छोटे-छोटे राजा और जमींदार, जो किसी-न-किसी नरेश के आतंक के शिकार बन जाया करते थे, अंग्रेजी छत्रछाया में अपने को सुरक्षित समझकर इसके प्रसार में सहायता कर रहे थे। परन्तु सिपाहियों, राजाओं और जमींदारों की बहुत बड़ी संख्या ऐसी थी जिनके सिर स्वतंत्रता अपहरण हो जाने पर ग्लानि और दुःख से झुके जा रहे थे। नील का व्यापार करने वाले अंग्रेजों के हाथों साधारण जनता अलग तंग थी। नये शासकों का व्यवहार उच्च वर्ग के प्रति भी सदोष था। अवध नरेश के प्रति उनका व्यवहार देखकर प्रजा में रोष की भावना का पैदा होना स्वाभाविक ही था। शुरू में अंग्रेज उच्च वर्ग के हिंदुस्तानियों की बहुत कद्र करते थे और उन्हें दावतों के लिए बुलाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द के समाप्त होते-होते यह परम्परा खत्म होगई। यहां तक कि उन्हें यह भी आज्ञा न थी कि सवारी में बैठकर गवर्नमेंएट हाउस के अन्दर आ सकें। काले-गोरे का भेद बढ़ता ही चला गया। रेजीनेल्ड हेवर, जेम्स फोर्ब्स, जाकमो आदि यूरोपीय यात्रियों ने उन विरोधी भावनाओं का उल्लेख किया है जो नित्यप्रति सन्देश के लोगों के हृदय में जड़ पकड़ रही थीं। लखनऊ, मेरठ, कानपुर, दिल्ली इत्यादि स्थानों में यह हाल था कि कोई अंग्रेज़ अकेला सड़क पर निकलने में संकोच करता था। सन् १८३० में कम्पनी का चार्टर बदला जाने वाला था। हिंदुस्तानियों की इच्छा थी कि यह न बदले। किंतु उनकी इच्छा पूरी न हुई। इस प्रकार सन् ५७ से पहले ही हिंदुस्तानियों के हृदय में असंतोष की लहरें दौड़ रही थीं। अवध की समस्या अंतिम विस्फोट का कारण बन गई और विद्रोह की आग भड़क उठी। संगठित सैनिक शक्ति और वैज्ञानिक साधनों के अभाव के कारण यह विद्रोह सफल न हुआ, यद्यपि शुरू में आग बहुत तेजी से फैलती नज़र आरही थी।

श्री वार्ष्णेय लिखते हैं—'हमें देखना यह है कि इस महान् ऐतिहासिक घटना का हमारे तत्कालीन लेखकों और कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र विद्रोह से सात वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे और उसकी छाया में पलकर बड़े हुए थे। किन्तु उन्होंने विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा—एक स्थान पर उन्होंने थोड़ा सा संकेत दिया है......भारतेन्दु का मौन आश्चर्यजनक है । किन्तु इसका उत्तर उन्होंने स्वयं ही दे दिया है। भारतेन्दु के बाद भी केवल इने-गिने कवियों ने ही विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह विद्रोह जैसी महान् ऐतिहासिक घटना के देखते हुए बहुत कम क्या नगण्य-सा है । दो बातें स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं। पहली, प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में बहुत कम ने विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है। दूसरी, जिन्होंने कुछ लिखा भी है वे विद्रोह को कुछ बहके हुए भारतवासियों की नाजायज़ हरकत बताकर चुप हो जाते हैं। उन्होंने उसे भयावह दृष्टि से देखा है। नाट्यकार भी इस घटना के प्रति उदासीन रहे, यद्यपि उन्होंने अनेक सामयिक विषय अपनाये । अन्य साहित्यिक रूपों में विद्रोह के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्देश नहीं मिलता। केवल राधाकृष्ण-दास ने अपने उपन्यास में एक स्थान पर विद्रोह का जिक्र किया है। किन्तु अपने इतिहास-प्रसिद्ध साहित्यिकों को छोड़कर साधारण और अज्ञात कवियों तथा जनसमुदाय की ओर आने से हमें ज्ञात होता है कि इन्होंने विद्रोह के प्रति अपनी भावनाएं व्यक्त करने में संकोच से काम नहीं लिया। उनमें हमें विद्रोहियों के प्रति सद्भावनाएं मिलती हैं, उसके शौर्यपूर्ण कृत्यों का उल्लेख मिलता है, और कभी-कभी तो उनका निजी हार्दिक उल्लास और उत्साह घटनाओं के साथ गुंथा हुआ मिलता है। कला की दृष्टि से भी उनकी रचनाएं हीन कोटि की नहीं कही जा सकतीं; भाषा और भावों की पृष्ठभूमि में सुन्दर काव्य की जन्मदात्री सच्ची अनुभूति है।'

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में प्रकट भावनाओं से भिन्न भावनाएं हमें इन रचनाओं में मिलती हैं जो एक प्रकार से हिन्दी प्रांत की मूक जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। अवध, मेरठ आदि प्रदेशों में यदि प्रयत्न किया जाय तो संभव है हम और भी ऐसी रचनाओं का संग्रह करने में सफल हो सकें।

बैसवाड़े के दुलारे नामक कवि ने अपने एक गीत में शंकरपुर के राना बेनीमाधवबख्शसिंह की भरपूर प्रशंसा की है, जिन्होंने डटकर अंग्रेज़ों का मुकाबला किया था। 'अवध में राना है मरदाना !' यह इस गीत की टेक है। रायबरेली जिले के हमीर गांव निवासी बजरंग ब्रह्मभट्ट ने भी राना की वीरता

अपनी आंखों से देखी थी। इस कवि ने राना की प्रशंसा में एक छन्द को इस इस प्रकार समाप्त किया है—

नेक न डेराना छीन लीन्ह्यो तोपखाना,
वीर बांधे वीर बाना बैस राना बिरम्हाना है।

सन् सत्तावन के विद्रोह के लोकगीत भी मिलते हैं जो साधारण जनता की विद्रोह-सम्बन्धी भावनाओं के परिचायक हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने एक स्थान पर लिखा है कि उनके जन्मग्राम कोरीपुर (जिला जौनपुर) के पास चांदा नाम का एक गांव है जहां सन् सत्तावन में अंग्रेजों से कालाकांकर (प्रतापगढ) के बिसेनबंशी राजा का घोर युद्ध हुआ था। इस गांव के आसपास के गांवों का वातावरण आज भी इस विद्रोह के वीर गीतों से प्रतिध्वनित हो उठता है। एक गीत यों आरम्भ होता है—

काले कांकर क बिसेनवा चांदे गाड़े वा निसनव

बिहार के एक लोकगीत में कुंवरसिंह का व्यक्तित्व चित्रित किया गया है, जो सन् सत्तावन के विद्रोह के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। यह गीत स्त्रियां जाँत की धुन में गाती हैं—

लिखिलिखि पतिया के भेजलिन कुंअरसिंह
ए सुन अमर सिंह भाय हो राम
चमड़ा के टोड़वा दांत से हो काटे कि
छत्तरी के धरम नसाय हो राम
बाबू कुअरसिंह औ भाई अमरसिंह
दोनों अपने हैं भाय हो राम
बतिया के कारण से बाबू कुंअरसिंह
फिरंगी से राढ़ बढ़ाय हो राम
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू
कोइलवर में रहे छाय हो राम
लाख गोला तुहुँ कै गनि कै मरिहौं
छोड़ बरहरवा के राज हो राम
रोवत बाड़े बाबू तो कुंअरसिंह
मुखवा पर धर के रूमाल हो राम
ले ली लड़इया हम तो बूढ़ा हो समय में
अब कउन होइहें हवाल हो राम

गीत में यह बात अधिक जोर देकर कही गई है कि जब अंग्रेजों का कैम्प दानापुर से उठा तो कोइलवर में डेरा पड़ गया और अंग्रेज ने कहा "मैं तुमको गिनकर लाख गोले मारूंगा,नहीं तो बड़हरवाका राज छोड़ दो।"कुंवरसिंह मुंह पर रूमाल रख कर रो रहे हैं—हाय मैंने वृद्धावस्था में लड़ाई छेड़ी है। न जाने क्या दशा होगी। यह मानना होगा कि गीत में निराशा की मात्रा झलक उठी है जो कुंवरसिंह की वीरता के प्रति न्याय नहीं करती। बाबू कुंवरसिंह आरा के समीप जगदीशपुर के बहुत बड़े जमींदार थे। उनके तीन भाई और भी थे—दयालसिंह, राजपतिसिंह और सिंह। गीत में पहले और चौथे भाई का वार्तालाप दर्ज है। कुंवरसिंह का साहस और रण-कौशल इतिहास की वस्तु है। उनके हाथों कई बार अंग्रेज सेनापतियों को मुंह की खानी पड़ी। आजमगढ़ पर चढ़ाई करके उन्होंने इसे अंग्रेजों से छीन लिया था। आजमगढ़ जिले में कुंवरसिंह ने कई स्थानों पर अंग्रेजों के दांत खट्टे किए। २० अप्रैल के दिन डगलस की सेना से उनका सामना हुआ और युद्ध में एक तोप के गोले ने उनकी जांघ और बांह को बुरी तरह घायल कर दिया। कहते हैं उनकी बांह तो टूट ही गई थी और वे मूर्छित होकर हाथी पर गिर पड़े। महावत अत्यन्त कुशलतापूर्वक हाथी को युद्ध-स्थल से दूर निकाल ले गया। हाथी से उतारे जाने पर जब कुंवरसिंह को होश आया तो उन्होंने अपना टूटा हुआ हाथ काटकर गंगा में फेंक दिया। खाट पर सुलाकर उन्हें २१ अप्रैल को जगदीशपुर पहुँचाया गया, जहां उनके भाई अमरसिंह कई हज़ार सिपाहियों के सहित उपस्थित थे। आहत अवस्था में पड़े-पड़े कुंवरसिंह ने २३ अप्रैल को कप्तान लेग्रैण्ड की सेना को नष्टकर दिया और लेग्रैण्ड भी मारे गए। २५ अप्रैल के दिन कुंवरसिंह स्वयं भी चल बसे और उनके बाद अमरसिंह ने विद्रोह का झंडा संभाल लिया। श्री रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं—"बिहार में कुंवरसिंह के गीत घर-घर में गाए जाते हैं। कितने ही बिरहे, कितने ही जांत के गीत, कितने ही खेत के गीत कुंवरसिंह के नाम से प्रसिद्ध हैं और जनता के मानस-पटल पर भारत की स्वतन्त्रता का एक धुंधला प्रकाश डाले हुए हैं।"

सुभद्रा कुमारी चौहान की सुविख्यात कविता की पंक्तियां आधुनिक हिन्दी कविता में अद्वितीय मानी जाती हैं—

> हर बोले बुन्देलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी
> खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसीवाली रानी थी

कोटाह जिला इटावा के एक लोकगीत में झांसीवाली रानी का चित्र अत्यन्त सरलतापूर्वक उपस्थित किया गया है—

—'खूब लड़ी मरदानी, अरे झांसीवाली रानी
बुरजन बुरजन तोपें लगाइ दईं,
गोला चलाए अस्मानी
अरे झांसीवाली रानी, खूब लड़ी मरदानी
सगरे सिपाहियों को पेड़ा जलेबी,
आपने चबाई गुड़ धानी
अरे झांसीवाली रानी, खूब लड़ी मरदानी
छोड़ मोर्चा लश्कर को भागी,
ढूंढेहु मिलै नहीं पानी
अरे झांसीवाली रानी, खूब लड़ी मरदानी'

लोकगीत में कहीं-कहीं अंग्रेजों की वीरता को भी सराहा गया है, और इनमें जनता की न्यायप्रियता का प्रमाण मिलता है—

चारों तरफ से बांध मोर्चा, लड़े खूब जंगी गोरा

एक गीत में कोई लोक-कवि राजा बेनीमाधवबक्स सिंह का यशगान करता है—

—'राजा बहादुर सिपाही अवध में,
धूम मचाई मोरे राम रे
लिख लिख चिठिया लाट ने भेजा
आव मिलो राना भाई रे
जंगी खिलत लंदन से मंगा दूं,
अवध में सूबा बनाई रे
जवाब सवाल लिखा राना ने,
हम से न करो चतुराई रे
जब तक प्राण रहें तन भीतर,
तुम कन खोद बहाई रे
जमींदार सब मिल गये गुलखान,
मिल मिल के कमाई रे
एक तो बिन सब कट कट जाई,
दूसरे गढ़ी खुदवाई रे।

राजा गुलाबसिंह की वीरता का गान संडीले के एक लोकगीत में मिलता है—

—'राजा गुलाबसिंह रहिया तोरी हेरूं
एक बार दरश दिखावा रे
अपनी गद्दी से यह बोले गुलाबसिंह,
सुन रे साहब मोरी बात रे
पैदल भी मारे सवार भी मारे,
मारी फौज बेहिसाब रे
बांके गुलाबसिंह रहिया तोरी हेरूं,
एक बार दरश दिखावा रे
पहली लड़ाई लखनतगढ़ जीते,
दूसरी लड़ाई रहीमाबाद रे
तीसरी लड़ाई संडीलवा में जीते,
जामू में कीना मुकाम रे
राजा गुलाबसिंह रहिया तोरी हेरूं,
एक बार दरश दिखावा रे'

सहारनपुर की एक गूजर स्त्री मेरठ का चित्र उपस्थित करती है। यद्यपि वह अपने पति के भोलेपन के गिर्द ही समूचे गीत को घुमाने में समर्थ हो गई है, पर इसकी पृष्ठभूमि में विद्रोह सम्बन्धी लूटमार का दृश्य स्वयं उभरता चला गया है—

—'लोगा न लूटे शाल दुशाले,
मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल
मेरठ का सदर बाजार है,
मेरे सैयां लूट न जाने
लोगों ने लूटे प्याली कटोरे,
मेरे प्यारे ने लूटे गिलास,
मेरठ का सदर बाजार है,
मेरे सैयां लूट न जानें,
लोगों ने लूटे गोले छुहारे,
मेरे प्यारे ने लूटे बदाम,
मेरठ का सदर बाजार है,

मेरे सैयां लूट न जानें
लोगों ने लूटे मुहरअशर्फी,
मेरे प्यारे ने लूटे छदाम
मेरठ का सदर बाजार है,
मेरे सैयां लूट न जानें'
इसी भाव के एक पंजाबी गीत में कोई स्त्री कह रही है—

सुत्ती सुत्ती नूं बीबा वे मैनूं सुपना आया
बैठडी अनाभोल गोरी सीस गुंदाया
कत्तदी कत्तदी भैणा नी मेरी चूंहदी हलवीं
भैणां मैंनूं देहो बधाइयां जानी दिल्ली मलनी
कत्तदी कत्तदी भैणानी मेरी चूंहदी छुट्टी
भैणां मैंनूं दे हो बधाइयां रांझे दिल्ली लूट्टी

—'सोते-सोते हे प्रियतम, मुझे स्वप्न आया।
मानो मैं एक अन्यमनस्क गोरी के रूप में सिर की मेढियां गुदवाकर बैठी हूँ।
कातते कातते मेरी पूनी का अन्तिम भाग हिलने लगा;
बहिना मुझे बधाई दो, प्रियतम ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया।
कातते-कातते मेरी पूनी का अन्तिम भाग मेरे हाथ से गिर पड़ा।
बहिनो मुझे बधाई दो, मेरे रांझे ने दिल्ली लूट ली।'

सन् सत्तावन के विद्रोह के लोकगीतों से इतना तो स्पष्ट है कि यद्यपि उन दिनों राष्ट्रीयता का वर्तमान स्वरूप देश के सम्मुख उपस्थित नहीं था, जनता की दृष्टि में यह विद्रोह केवल मात्र जागीरदारों का विद्रोह न होकर स्वतन्त्रता-युद्ध ही का एक महत्वपूर्ण रूप था। हमारे उच्च साहित्य की उदासीनता इन लोकगीतों के मुकाबले पर और भी अखरती है। ये गीत स्वतन्त्रता के स्वर छेड़ते है। ये जनता की जागरूकता के प्रतीक हैं।

सन् सत्तावन के असफल विद्रोहियो, तुम्हें शत शत प्रणाम।

लोकगीत की परख

'किस प्रांत या भाषाके लोकगीत आपको अधिक सुन्दर लगे?' यह प्रश्न मुझसे बहुतों ने पूछा है और मुझे हमेशा कुछ-कुछ मुस्कराकर पीछा छुड़ाना पड़ता है। पूछनेवाला पहले ही फैसला कर चुका होता है कि उसके अपने प्रांत के मुकाबले पर या उसकी अपनी भाषा के सम्मुख कौन ठहर सकता है और इसी लिए मुझे वादविवाद मोल लेने की इच्छा नहीं होती।

सभी प्रांतों या भाषाओं के लोक-गीत एक जैसे सुन्दर कैसे हो सकते हैं, बस यही बात सोचकर पूछनेवाला अपनी पूरी शक्ति से मुझे घेरकर अपनी ओर लेजाने की चेष्टा करता है। इसका उत्तर कभी-कभी एक फरमायशी मुस्कान के रूप में दे छोड़ता हूँ।

'कुछ तो कहिए'—यदि कोई अनुरोधके इस तल पर खड़ा होकर पूछता है तो सचमुच कुछ कहने को जी होता है।

हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि लोकगीत पहले संगीत है फिर कुछ और। अन्य देशों में लोक-संगीत के अनुसंधान तथा पुनरुद्धार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय देकर इसके द्वारा देश की वास्तविक आत्मा को गौरव प्रदान किया है। लोकसंगीत की कदर करने वाले तो यह भी बताते हैं कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ बिथोविन ने अपनी एक विख्यात 'सिम्फनी' की मूल प्रेरणा और रूप-रेखा अपने देशके एक साधारण लोक-गीत से प्राप्त की थी। जहां तक हमारे देश का सम्बन्ध है, हम इतना ही जानते हैं कि शास्त्रों में 'मार्ग' और 'देशी' इन दो भागों में संगीत को विभक्त किया गया है और यह बात भी छिपी हुई नहीं कि 'मार्ग' संगीतके विकास में 'देशी' संगीत ने काफी हाथ बटाया होगा। श्री डी० पी० मुकरजी के मतानुसार ठुमरी, टप्पा, दादरा, कीर्तन, भजन, इत्यादि 'देशी' या लोकगीत के ऋणी हैं। पर इधर लोकसंगीत के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। सिनेमा के व्यवसायी म्यूज़िक डायरेक्टर प्रायः हल्के-हल्के गानोंकी रूपरेखा तैयार करते समय बड़ी-बड़ी उलटबाजियां लगाते हैं, और कभी-कभी यों भी होता है कि वे किसी लोकगीत की शक्ल बिगाड़कर एकदम अशिष्ट और गंवारू चीज बना

डालते हैं। ले-देकर रेडियो संस्था से कुछ आशा की जा सकती है। पर यदि हम अपने रेडियो प्रोग्रामों में लोकगीत की बढ़ती हुई लोकप्रियता का सही-सही निरीक्षण करें तो हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रोग्राम की दिलचस्पी कायम रखने के लिए लोकगीतों की मौलिकता को कुरबान कर दिया जाता है। प्रायः यों होता है कि शब्द लोकगीत के ले लिए जाते हैं और इसकी स्वर-लिपि स्थिर करते समय म्यूजिक डायरेक्टर जान-बूझकर या अचेत रूप से हलके-फुलके गानों की किसी न किसी मिश्रित-सी शैली का आश्रय लेता है, जिस का नजदीकी या दूर का रिश्ता घूम फिरकर 'सिनेमा' संगीत से जा मिलता है। यदि रेडियो संस्था लोकगीतोंका एक छोटा-मोटा म्यूजियम बनानेका निश्चयकर ले तो बात बन सकती है। रिकार्डिंग करते समय गांव के सर्वोत्तम गाने वाले चुने जायं। इन रिकार्डों की सहायता से स्टूडियो के भीतर अन्य आरटिस्टों की ट्रेनिंग भी हो सकती है। मेरा यह भाव नहीं कि हम लोकगीत को सदा हू-ब-हू मूल-रूप में ही पेश करें। प्रायः बहुत से गीत उस्ताद की थोड़ी-बहुत कृपा-दृष्टि अवश्य चाहते हैं, क्योंकि शताब्दियों से उनके पुनरुद्धार की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। पर मूल रिकार्डिंग की सहायता से हम हमेशा यह देख सकेंगे कि कहीं संवारने के बहाने इसे बिगाड़ तो नहीं डाला गया।

अतिशयोक्ति और कोरी कलाबाजियों से दूर, लोकगीत की अमर कविता में हमें देश की वास्तविक आत्मा के दर्शन होते हैं। मैक्सिम गोर्की ने अपने विख्यात लेख 'व्यक्तित्व का विनाश' में इस बात पर जोर दिया है कि जनता केवल भौतिक संसार की विभूतियों को ही पैदा नहीं करती, बल्कि वह आध्यात्मिक विभूतियों को भी जन्म देती है। उसका कथन है कि जनता ही सृष्टि की प्रथम दार्शनिक और आदि कवि है और उसने न केवल संसार की श्रेष्ठ कविता की रचना की है, बल्कि सभ्यता के इतिहास का निर्माण भी उसीने किया है। अपने जीवन के शैशव काल में जनता ने आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर खाली हाथों ही प्रकृति से लड़ते हुए भय, आश्चर्य और उल्लास से भरकर धर्म को जन्म दिया। गोर्की इस बात पर जोर देता है कि यही धर्म जनता का काव्य था और इसीमें निहित था प्रकृत शक्ति सम्बन्धी उसका सारा ज्ञान, सारा अनुभव, जो बाहर की विरोधी शक्तियों से संघर्ष द्वारा उसे प्राप्त हुआ था। प्रकृति पर प्रथम विजय से लोकजन स्वाभिमानी हुआ, उसे अपनी शक्ति का आभास मिला और फिर उसे नई विजय की लालसा पैदा हुई। इसीने फिर उसे वीर गाथा की सृष्टि के लिए बाध्य किया। कालान्तर में दन्तकथा और

वीरगाथा मिलकर एक हो गए। क्योंकि गोर्की के शब्दों में जनता ने वीर नायक को अपना सामूहिक ज्ञान देकर कभी उसे देवताओं के समक्ष और कभी उनके विरोध में खड़ा किया; दन्तकथा और वीरगाथा में—जैसा कि उनकी भाषा में भी—हमें किसी अकेले व्यक्ति के विचार नहीं बल्कि समस्त जनताकी सामूहिक रचना का आभास मिलता है।

देश और गांव का इतिहास लोकगीत की अमर कविता की रूपरेखा अंकित करता है। यह कहा जा सकता है कि देशका वास्तविक इतिहास, समय की गति-विधि, जाति की संस्कृति और प्रतिभा,समाज के संस्कार,उपकरण और आदर्श, इन सबका अध्ययन लोकगीतों ही की सहायतासे किया जा सकता है।

'लण्डइ' पश्तो भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है संक्षिप्त। प्रत्येक लण्डइ गीत दो दो पंक्तियों के बेजोड़ टुकड़ों का संग्रह होता है। प्रत्येक टुकड़ा मिसरा या टप्पा कहलाता है, यद्यपि न यह तुकान्तक होता है और न इसकी दोनों पंक्तियों की मात्राएं ही समान रहती हैं। पठान लोकगीतों में लण्डइ का विशेष स्थान है। यह प्रतीत होता है कि जीवन का समस्त सुख-दुख इसीके शब्दों में समा दिया गया है। समस्त संयोग-वियोग भी इसीमें उमड़ता नजर आता है, और लगे हाथ सारी की सारी क्रिया-प्रतिक्रिया भी इसीके शब्दों में कविता की सृष्टि करती है—

तूतान पाखो ममाने तोरे
ज़ द सरकार द रोटई एस परवाह न लरम

—'शहतूत पक गये। ममाने (पककर) काले पड़ गये।
मुझे सरकार की रोटी की ज़रा परवाह नहीं।'

यार में द समे ज द स्वात यिम
समा दी वरान शी चे दुयाड़ा स्वात लजुना

—'मेरा यार मैदान का निवासी है और मैं हूँ स्वात की रहने वाली,
मैदान उजड़ जाए ताकि हम दोनों स्वात चले आएं।'

वतन दे स्ता त प्के ओसा
ज द मरगै य बूटो श्पे दरताकोमा

—'यह तेरा वतन है, तू इसमें आबाद रहे,
मैं तो एक चिड़िया हूँ और तेरी याद में वृक्षों पर रातें काट लेती हूं।'

दि जिनैद्रे सीजना मजै कड़ी
दस्त तावीज तावीज स्पिनै पंजै लंड कदमुना

—'लड़की में तीन चीजें शोभा देती हैं,
सोने का तावीज़, गोरी पिण्डलियां और छोटे-छोटे कदमों की चाल।'

तप जाँगू के जाड़ा मां
स्ता मलगरी ब ता द् वीज नगणी

—'झूले में रो मत,
तेरे हमउम्र तुझे बुज़दिल समझेंगे।'

द् आफ्रीदो दस्तूरा ओरान शे
नने वादहू की सबाए दड़ोल लेगी ना

—'अफ्रीदियों का यह रिवाज बरबाद हो जाय,
आज (लड़की को) ब्याहकर लाते हैं, कल उसे ईंधन लाने भेज देते हैं।'

मुसाफिर मा वजने खा वन्दा
प ज़न कदन ब दा वतन अरमान कविना

—'मुसाफिर को मत मारना, खुदाबंदा !
मरते वक्त उसे वतन का अरमान रहेगा।'

द् यार मे मुटे मुटे 'ब्रत ऊ'
तालवाला शू प लअद के देवालुनो

—'मेरे यार की मुट्ठी-मुट्ठी भर मूंछें थीं,
कब्र की दीवारों में वे बरबाद हो गईं।'

यार में तूरोरा पशा शो
प परून बरकड़ी खुलु खपेमाना यमा

—'मेरा यार तलवारों को पीठ दिखाकर लौट आया,
मैं कल के दिए हुए चुम्बन पर लज्जित हूँ।'

'लण्डई' गीतों की एक विशेषता भी है कि उनकी अधिक संख्या ऐसी है जिनमें नारी की ओर से प्रायः पुरुष को सम्बोधन किया जाता है।

'दूहा' राजस्थानी शब्द है जो दोहे का पर्यायवाची है। राजस्थान की मान्यताओं, संयोग-वियोग, क्रोध, घृणा, शृंगार, हास्य तथा वीरता के सजीव चित्र इन दूहों में मिल जांयगे। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में बहुत से दूहे उद्धृत किए हैं, जिनमें से एक इस प्रकार है—

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति

इस दूहे का प्रचलित रूप इस प्रकार है:—

—'काग उड़ावन धण खड़ी,
आयो पीव भड़क्क
आधी चूड़ी काग गल,
आधी गई तड़क्क।'

अनेक दूहे आज भी जनता कण्ठस्थ रूप से गाती है। इनकी पृष्ठभूमि में बार बार राजस्थान की आत्मा अपने सत्य, शिव तथा सुन्दर का सामंजस्य स्थापित करती हुई भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अभिव्यक्ति करती है।

राजस्थान रिसर्च सोसाइटी के सम्मुख भाषण देते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने निम्न लिखित विचार प्रकट किए थे—

'भक्तिरस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है। राधाकृष्ण को लेकर प्रत्येक प्रांतने मन्द या ऊंची कोटि का साहित्य पैदा किया है पर राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्माण किया है उसके जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता। और उसका कारण है। राजस्थानी कवियों ने कठिन सत्य के बीच में रहकर युद्ध के नगारों के बीच अपनी कवितायें रची थीं। प्रकृति का ताण्डवनृत्य उनके सम्मुख था। क्या आज कोई केवल अपनी भावुकता के बल पर फिर वह काव्य निर्माण कर सकता है?

'राजस्थानके छोटे-से-छोटे गानमें भी जो एक भाव है,जो उद्वेग है, वह राजस्थान का अपना है। वह केवल राजस्थान के लिए ही नहीं, सारे भारत-वर्ष के लिए गौरव की वस्तु है। ये गान चिर सत्य को प्रदर्शित करते हैं। वे अन्तस्तल से निकले हैं, अतः वह प्रकृति के बहुत समीप हैं। मेरे मित्र क्षिति-मोहन सेन ने मुझे हिन्दी कविता का परिचय दिया था। पर आज मुझे एक नई ही वस्तु मिली है। ये उत्तेजक गान मुझे साहित्य का एक नवीन मार्ग दिखला रहे हैं। मैंने सुना है कि चारण गाकर वीरों को प्रोत्साहित किया करते थे। ये आज भी जीवन से भरपूर हैं। भारतवर्ष आज इस प्रतीक्षा में है कि चारणों की कविता का सुसम्पादित संग्रह कब प्रकाशित किया जाता है।'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ये भाव वीररसपूर्ण दूहों का परिचय पाकर प्रकट

किए थे, परन्तु राजस्थान के दोहों में जीवन के सभी रस मौजूद हैं। यह और बात है कि पठानों के लएडई गीत के टप्पों या मिसरों ही की भांति दूहों की कविता वीरता की भावना पेश करते समय अधिक सजीव हो उठती है। कुछ मिले-जुले दूहे लीजिएः—

हरणी मन हरियालियां
उर हालियां उमंग
तीज परव रंग त्यारियां
सावण लायो संग

—'हिरनियों के मन हरे हो गए।
किसानों के हृदय में उमंग है।
तृतीया का त्योहार, रंग भरी तैयारियां—
ये सावन अपने साथ लाया है।'

धर नीली धन पुण्डरी
घर गहग हैं गियार
मारू देश सुहावणो
सावण साँझी वार

—'धरती हरी हो गई।
प्रियतमा गोरी नजर आती है।
घर-घर आनन्द मनाया जा रहा है।
सावन की सन्ध्या के समय मारवाड़ देश बहुत सुहावना लगता है।'

दिस चाहंदी सज्जणा
नेहाल्लन्दी मग्ग
साधन क्रुन्भ बचाह ज्यूं
लांबा हूया पग्ग

—'प्रियतम के आगमन की दिशा निहारते हुए
और मार्ग की ओर नजरें जमाये रखनेवाली
प्रियतमा के पैर क्रौंच के बच्चे के समान
लम्बे हो गए।'

यही, भमन्तो जो मिलै
कहे अम्हीणी वत्त

धण कणेर री कां बज्यूं
सुकी तोय सुरत्त

—हे पथिक, घूमते-घूमते यदि तुम प्रियतम से मिलो तो उससे मेरी बात कहना कि प्रियतमा केवरकी डण्डीके समान तुम्हारी यादमें सूख गई।'

जनणी जण अहड़ा जणे
कै दाता कै सूर
नातर रहजे बांझड़ी
मती गमाजे नूर

—'हे जननी, यदि पुत्र जनना तो ऐसा जनना
जो या तो दाता हो या शूरवीर
अन्यथा बांझ रहना
और व्यर्थं अपना यौवन नष्ट मत करना।'

बिन मरियां बिन जीतियां
धणी आंबियां धाम
पग पग चूड़ी पाछटूं
जै रावत री जाम

—'बिना मरे हुए या बिना जीते हुए
यदि मेरा पति घर लौट आया
तो मैं क्षत्रिय की कन्या हूंगी
तो अपने पैरों से अपनी चूड़ियों को तोड़ डालूंगी।'

लोहारी तू पीव रा
वके न पूजूं हत्थ
फूलन्ता रण कन्त रे
कड़ी समाणी मत्थ

—'हे लुहारिन,
मैं तेरे पति के हाथों को अब न पूजूंगी
मेरे प्राणनाथ रण भूमि पर फूले न समाए
तो कवच की कड़ी टूट गई।'

नायन आज न मांड पग
काल सुणिजै जंग

धारां लागे जा धणी
तो दीजै घन रंग

—'हे नाइन, तू आज मेरे पैरों में मेहंदी न लगा
कल जंग की सूचना मिलेगी।
यदि उसमें प्राणनाथ तलवार की धार पर चढ़ जायंगे
तो तू भले ही खूब मेंहदी लगाना।'

'अरे जात बजारें छैला—यह एक बुन्देली लोकगीत का टेक है। इस गीत में बैलों का गुण दोष आदि की परख का बहुत सुन्दरता से वर्णन किया गया है। जहां तक इसकी सांगीतिक गतिविधि का सम्बन्ध है, इसको हम बड़ी आसानी से एक नृत्य गीत कह सकते हैं। बुन्देलखंड की जनता इसे 'छन्दियाऊ फाग' के रूप में गाती है।'

अरे जात बजारें छैला
मोरे जात बजारें छैला लाल
सौ लैन अनोखे बैला
मोरे जात बजारें छैला लाल
कन्त बजारे जात हो
कामन कह कर जोर
एक अरज सन लीजियो
कन्त मानियो मोर
लीला है रंग
अति जबरजंग
औगन न अगं
एकऊ बाके
रोमा मुलाम
पतरो है चाम
चाहे लगें दाम
कितने हू बाके
सो लिइए असल चुखैला
मोर जात बजारें छैला, लाल
भौरा रंग बाँकुड़ा चंचल
ओछे कानल खैला

मोरे जात बजारें छैला, लाल
हंसा के बैल
न लिइए छैल
न लिइए पैल
अगरे वा के
कजरा की शान
लै लिइए जान
दै दिइए दाम
चित्त में दै के
पुठी उतार घींच पतरी को
न लिइए बिगरैला
सो ओछे कानन छैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल
करिया के दन्त
जिन गिनौ कन्त
हठ चलौ अन्त
मानो बिनती
सींगन के बीच
भौंयन दुबीच
भौंरी हो बीच
सो हुइयै असल परैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल
लैन अनोखे बैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल

ग्रामों में जहां अधिक बैल होते हैं, वे एक बा
उसीमें बिना बंधे हुए बैल बन्द कर देते हैं, जहाँ वे स्वेच्छानुसार बैठते हैं। कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार का बैल भी न लीजियेगा।

'करिया के दन्त जिन गिनौ' का अर्थ है काले बैल के दान्त भी न देखो। बैल लेते समय परीक्षा में दांत देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि काला रंग देखते ही उसे छोड़ दो।

लोक-साहित्य की पृष्ठ-भूमि में जनता की सामूहिक रचना-शक्ति अन-

गिनत सदियों से मानव समाज के उज्वल भविष्य के लिए हाथ-पांव मारती आई है। परिस्थितिओं के प्रभाव उसने हर युग में कबूल किए हैं।

नये गीतों में जनता ने फिरंगी का ज़िक्र खास तौर पर किया है। जब शुरू-शुरू में रेल चलने लगी तो जनता गा उठी थी—

—'पैसे का लोभी फिरंगिया
धूएं की गाड़ी उड़ाए लिए जाय!

मेरठ प्रदेश के एक पुराने लोक-गीत की टेक इस प्रकार है—

तेरे घर में घुस गए चोर
ननदिना दीया दिखैयो रे!

इसी टेक पर ननदी की जगह गाँधी जोड़ कर आजकल स्त्रियां इसे यों गाने लगीं हैं:

—'तेरे घर में घुस गये चोर
गांधी दीया दिखैयो रे!'

यह जनता की सजीव प्रेरणामयी प्रतिभा का प्रमाण है। एक गौड लोक-गीत में गाँधी जी का ज़िक्र बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है:

अद्दल गरजे बद्दल गरजे गरजे मालगुजारा हो
फिरंगी राज के हो गरजे सिपाईरा, रामा
गांधी का राज होने वाला हायरे

—'बादल गरजता है और ज़मीदार भी गरजता है
फिरंगी के राज में पुलिस का सिपाही भी गरजता है
पर गाँधी का राज होने वाला है, हाय!'

गाँधी को लेकर भोजपुरी बिरहे में एक चित्र यों दिया गया है।'

गांधी की लरैया
नाहीं जितवे रे फिरंगिया
चाहे करहु कितनो उपाय
भल भल मजे करले हे फिरंगिया
अब जइहैं कोठियां बिकाय

—'गाँधी की लड़ाई में
तू कभी नहीं जीत पा सकेगा, ओ फिरंगी
चाहे तू कितना भी उपाय क्यों न करे

तू ने भले-भले मजे तो कर लिए
अब तो तेरी कोठियां बिक जायेंगी ।'

एक 'ददरिया' गीत और लीजिए जो छत्तीसगढ़ से मिला है । इसमें गाने वाले ने बड़ी खूबी से पण्डित जवाहरलाल नेहरू का नाम पिरो डाला है।

नवा रे घर मां गड़ावे धुनिया
नहरू-बाबा के कहे मां चलत है दुनियां

—'नये घर में धूनी गाड़ी जा रही है ।
दुनिया नेहरू बाबा के हुक्म पर चलती है ।'

लोक-गीत को गाँधी से नेहरू तक पहुंचने में अधिक देर नहीं लगी । नेहरू के लिए भी छत्तीसगढ़ी जनता ने गांधी बाबा की तर्ज पर नेहरू बाबा का प्रयोग किया है । यह जनता की श्रद्धा का परिचायक है । दुनिया नेहरू-बाबा के हुक्म पर चलती है—यहां दुनिया का भाव है हिन्दुस्तान की समस्त जनता ।

आज लोक-गीतकी दुनियामें भी नेहरू और हिन्दुस्तान पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं । यही परिस्थितियों का तकाज़ा भी है । जनता की आशायें आज इसी एक बिन्दु पर केन्द्रित हैं । प्रत्येक नवीन युग लोक–प्रतिभा को नवीन जीवन और प्रेरणा प्रदान करता है । यही लोक गीत की वास्तविक परख है । नये घर में नया स्तम्भ गाड़ा जा रहा है । समस्त देश 'नहरू-बाबा' के इशारे पर कदम उठा रहा है—

ग्यारह

स्वाधीनता-संग्राम की परम्परा

एक चीनी लोकगीत में किसान की वाणी यों मुखर हो उठी है—"सूर्य उदय होता है तो मैं उठ जाता हूँ, जब सूर्य अस्त होता है तो मैं सो जाता हूं; पानी पीने के लिए कुआं खोद लेता हूँ, अन्न के लिए धरती जोत लेता हूँ। सम्राट का राज्य सम्राट के पास रहे, मुझे उससे क्या लेना-देना है?" भारतीय किसान का भी यही दृष्टिकोण रहा है।

मुगल-काल में समस्त भारत एकता के सूत्र में बंधता चला गया था, और जैसा कि यदुनाथ सरकार का कथन है, मुगलों ने बुद्धिमत्ताके साथ ग्रामशासनकी पुरानी पद्धतिको और लगान वसूल करने के पुराने हिन्दुओंके तरीकेको ज्यों-का त्यों जारी रखा, यहां तक कि लगान के महकमे में प्रायः हिन्दू कर्मचारी रखे जाते थे, और राजधानी में राजकुल के बदल जाने में करोड़ों किसानों के जीवन पर किसी प्रकार का अहितकर प्रभाव नहीं पड़ता था। एक पंजाबी लोकोक्ति है—'खाधा पीता लाहे दा, बाकी अहमद शाहे दा।' अर्थात् जो खा-पी लिया उसे ही नफ़ा समझो, बाकी तो अहमद शाह के अधिकार में समझो। अहमद-शाह अब्दाली की लूटमार की विस्तृत गाथा इतिहास के पन्नों में मिलेगी। परन्तु जनता ने इस गाथा को एक-दो पंक्तियों में समेट कर रख दिया है।

मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का एक और हिन्दी लोकोक्ति में संकेत किया गया है—'हुकम कम्पनी, मुगल बादशाह।' अंग्रेजों के आने से सबसे बड़ा झटका किसानों को अनुभव हुआ, क्योंकि लगान अदा न करने के कसूर में पहले उन्हें कभी जमीन से बेदखल नहीं किया जाता था। अब किसान भूखे रहने लगे। अंग्रेजी गतिविधि के अनुसार बटाई की प्रथा बदल दी गई, और लगान पैदावार की शकल में लेने के स्थान पर रुपयों की शकल में लिया जावे लगा। बटाई की प्रथा बहुत हितकर थी, क्योंकि लगान की अदायगी, प्रति वर्ष की वास्तविक पैदावार पर निर्भर होती थी, और अब यह हाल है कि अनाज का भाव घटता बढ़ता रहने के कारण रुपये की शकल में लगान का प्रति वर्ष की पैदावार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। शुरू-शुरू में विभिन्न जनपदों में डाकुओं ने भी

जोर पकड़ लिया था, जैसा कि पूर्वीय बंगाल की लोकोक्ति से स्पष्ट होता है— 'दिने राजे फिरंगी देर, रातीं मलंगी देर'। अर्थात् दिनको फिरंगी का राज रहताहै तो रात को मलंगी डाकू का।

मुगल और अंग्रेज़ी राज्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए सन् १९३१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एच० जी० वेल्स से कहा था—'हमारी शिक्षा के नाना प्रवाह आज सूखी नदियों के समान रस-हीन हो चुके हैं, क्योंकि उनमें जिन साधनों की धारा बहा करती थी उन्हें आज अन्य दिशाओं की ओर दिया जाताहै...मुगल सरकार में किसी हद तक वैज्ञानिक योग्यता और सुव्यवस्था का शायद अभाव था। वे लोग चाहते थे धन; इसलिए जब तक वैभव विलास में रहने में उन्हें बाधा नहीं पड़ती थी, वे भी गांवों के प्रगतिशील समाज के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते थे। दरबारी शासकों के बावजूद जातीय जीवन की धारा सहज रूप से चली आ रही थी। मुसलमान शासकों ने कोई शर्तें नहीं घोषित कीं और न भारतीय शिक्षादाताओं या ग्रामवासियों को जबरदस्ती अपने आदेश पर चलने के लिए पीड़ित किया गया। लेकिन आज तो देश की शिक्षा-पद्धति के सभी संघटन पूर्णतया मिट गये हैं और इस क्षेत्र में हमारी चेष्टाओं को सरकारी स्वीकृति का मुहताज होना पड़ रहा है ·· मुझसे अकसर पूछा जाता है कि आपकी अपनी योजनायें क्या हैं ? मैं जवाब देता हूँ : मेरी कोई योजना नहीं। अन्य देशों के समान हमारा देश भी अपना विधान स्वयं खोज निकालेगा, प्रयोगों की स्थिति में से गुज़र कर वह क्रमशः जिस स्थिति को पहुंचेगा, बहुत मुमकिन है कि हमारी योजनाओं से वह उचित स्थिति बिल्कुल ही भिन्न हो।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो चुकी है। देश ने अपना विधान बहुत कुछ बना लिया है। १५ अगस्त ४७ का दिन हमारे इतिहास में सदैव एक चिर अभिनन्दनीय दिन रहेगा, जबकि दो हज़ार वर्षों की लम्बी गुलामी के पश्चात् देश ने अपने अधिकार स्वयं सम्भाले।

'इस स्वतन्त्रता की नदी का उद्गम स्रोत कहां है ?' यह प्रश्न प्रतिध्वनित हो उठता है। हो सकता है कुछ लोग सन् १८५७ के विद्रोह की ओर संकेत करें। परन्तु यह स्पष्ट है कि उस समय आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता की भावना का जन्म नहीं हुआ था। फिर भी हम विद्रोह की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसे भारतीय स्वतन्त्रता-आंदोलन का प्रथम चरण अवश्य कहना होगा -

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत को स्वतंत्रता की भाषा प्रदान करने वाले

राष्ट्रीयताकी रूपरेखा अंकित करते हुए लिखा है-'देश मनुष्य की एक सृष्टि है। यदि मनुष्य प्रकाशमान होगा, तो देश भी प्रकाशित होगा। सजला, सुफला, और मलयज शीतला भूमि का नारा हम जितना ही बुलन्द करेंगे, हमारी जवाब देही उतनी ही बढ़ती जायगी। प्रश्न उठेगा कि प्राकृतिक दान तो सिर्फ उपादान ठहरा, उन उपादानों की सहायता से मानवीय संपदा कहां तक रची या बढ़ाई जा सकी? मनुष्य के हाथों में पड़कर यदि देश का जल-स्रोत सूख जाय, फल बर्बाद होजाय, मलय पवन महामारी से विशाक्त हो उठे, उपजाऊ ज़मीन बन्ध्या हो जाय तो कविता की भाषाके द्वारा देशकी दारुण लज्जा छुपाये नहीं छुपेगी। देश मिट्टी का बना नहीं होता, मनुष्यों के द्वारा उसका संघटन होता है। इस लिए देश अपने अस्तित्व को कायम करने के लिए बराबर उन्हीं लोगों की ओर ताका करता है, जिन्होंने किसी-न किसी साधना के द्वारा अपने को सार्थक किया है। उनके न रहने पर भी पेड़-पौधे और जीव-जन्तु तो जीते-मरते हैं, वर्षा भी होती है, और नदी भी बहा करती है, लेकिन इतना सब होने पर देश उसी प्रकार आच्छन्न रहा करता है। जिस प्रकार मरुभूमि की बालू के तले उपजाऊ धरती। यही कारण है कि जिनके भीतर देश अपना प्रकाश अनुभव करता है, उन्हें सबके सामने अपना कहकर विशेष रूप से चिन्हित करने के लिए उपलक्ष्य भी खोजता है। जिस दिन वह ऐसा कर पाता है, जिस दिन किसी व्यक्ति को वह सानन्द स्वीकार करता है, उसी दिन समझना चाहिए की धरती की गोद से उस व्यक्ति का जन्म देश की गोद में होगया।'

राष्ट्रीयता का इतिहास शत-शत सहस्र-सहस्र वीरों और क्रांतिकारियों के सहयोग से बनता है। देश-देश में पद्दलित मनुष्यता को मुक्त करने वाले शहीदों के गीत जनता की सामूहिक शक्ति का परिचय देते हैं। इन गीतों में देश की आत्मा की चिर-नवीन आवाज सुनाई देती है। एक रूसी लोक-गीत में लेनिन को यों सम्बोधित किया गया है—

—'तुम वह पहले व्यक्ति थे जिसने हमें मानव कहा
अन्धकारमय आत्माओं को प्रकाश दिया
तुमने ही हमें स्वप्न से जगाया
तुमने ही हमें जय और श्रीपथ दिखाया!'

एक और रूसी लोक-गीत में लेनिन की तुलना जारशाही के अंधेरे में भटकती और कराहती हुई मनुष्यता तक प्रकाश पहुंचाने वाले सूर्य से की गई है। लेनिन ही वह पहला व्यक्ति है जिसे संसार ने एक स्वर होकर बीसवीं

शताब्दि का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी स्वीकार किया है। एक रूसी लोक-गीत में लेनिन का इस प्रकार अभिनन्दन किया गया है—

—'कौन कहता है लेनिन को दफना दिया गया ?
वह अभी जिन्दा है।
प्रत्येक नई नसल की निर्भय भावनाओं में
वह अभी जिन्दा है।
उन नवयुवकों में जो जनमत के हामी हैं,
वह अभी जिन्दा है।
समस्त संसार के निर्धनों की जत्थाबन्दी में
वह अभी जिन्दा है।'

हमारे देश में सुविख्यात क्रांतिकारी भगतसिंह का व्यक्तित्व लोक-गीत की विभूति बन गया है। लोककवि दुलीचन्द ने भगतसिंह को फांसी के तख्ते पर चढते हुए दिखाया है, इस क्रांतिकारी अमर शहीद की अन्तिम भावनायें हमारे सम्मुख उपस्थित करते समय लोक-कविता की चिर-अभिनन्दित परम्परा को हाथ से नहीं जाने दिया—

'दुष्ट मुंए मोरे पल-पल होत अंबार
क्यों डरो डार गले फांसी
सूधा सूरा स्वर्ग को जाऊं
धरम राय को बिथा सुनाऊं
और हर से मांग भगतसिंह को लाऊं
भारत को हजार
क्यों डरो डार गले फांसी
लें हम जनम यहीं तुम पाईऊं
जल्दिया में भगत मत जाईऊं
फिर फांसी पर लटकइऊं
वैरी, खड़ी करके कतार
क्यों डरो डार गले फांसी
जलेगी लास हम यहीं भसमे..
फिर धरती में कुरा चलेंगे
हाड़ रक्त सबही फल देंगे

वैरी भारत देश हमार
क्यों डरो डार गले फांसी
ले अत्याचार कियो बहुतन पै
आय तो दुष्ट दुष्टापन पै
अब होनी बैठी लन्दन पै
वैरी, लंका के अनुहार
क्यों डरो डार गले फांसी

—'ओ मुए दुष्ट मुझे तो पल-पल देर हो रही है।
मेरे गले में फांसी डालकर अब डरता क्यों है ?
मैं वीर हूँ, सीधा स्वर्ग को जाऊंगा।
और धर्मराज से सब गाथा सुनाऊंगा।
मैं भगवान से एक हजार भगतसिंह मांग कर लौट आऊंगा।
मेरे गले में फांसी डालकर अब डरता क्यों है ?
जब मैं दोबारा जन्म लूंगा तो तुम्हें यहीं उपस्थित देखूंगा।
ओ वैरी, फिर तुम्हें शत्रुओंकी कतार में खड़े कर के फांसी पर लटकाऊंगा।
मेरे गले में फांसी डाल कर अब डरता क्यों है ?
मेरी लाश जलेगी, मैं यहीं भस्म बन जाऊंगा।
फिर इसी धरती पर पौधे फूट निकलेंगे।
मेरी हड्डियां और मेरा रक्त सबही फल देंगे।
ओ वैरी, भारत देश तो हमारा है।
मेरे गले में फांसी डाल कर अब डरता क्यों है ?
तुमने बहुतों पर अत्याचार किया है।
ओ दुष्ट, अब तुम दुष्टता पर उतर आये हो।
अब लन्दन पर होनी का प्रहार हुआ चाहता है,
लंका के सदृश।
मेरे गले में फांसी डालकर अब डरता क्यों है ?'

लोक-कवि ने भगतसिंहसे यह कहलानेकी चेष्टा की है कि यह क्रांतिकारी वीर भारत का प्रतीक बनकर रहेगा और उसकी आशाएं और माँस और रक्त फल लायेंगे जैसे धरती से अन्न के पौधे उगते हैं।

वीर भगतसिंह तुम्हें शत-शत प्रणाम, तुम्हारा सहस्त्र-सहस्त्र अभिनन्दन।

स्वतंत्रता आंदोलन के आदि युग का लोक-गीत, जिसे कभी वीर अजीतसिंह ने उच्च स्वरों में गाया था, आज भी पुराना नहीं हुआ है—

पगड़ी सम्भाल, ओए जट्टा
पगड़ी सम्भाल ओए

—'पगड़ी सम्भाल, ओ जाट,
अरे पगड़ी सम्भाल।'

आज किसान का सिर ऊंचा उठ रहा है। आज वह स्वतंत्र भारत का स्वतंत्र किसान है। अब उसकी पगड़ी को कोई खतरा नहीं।

प्रथम कांग्रेस मंत्रिमंडल से कुछ दिन पहले, जब चुनाव लड़े जा रहे थे, मध्यप्रांत के आदिवासी गोंडों ने अपने एक गीत में बादल की तरह गरजने वाले मालगुजार (जमींदार) और कड़ककर चलने वाले सिपाही का चित्र प्रस्तुत करते हुए यह सूचना दी थी कि गांधीका राज होने वाला है। इन शब्दों में जो ज्वाला भड़क उठी थी वही चारों ओर फैलती चली गई। शत-शत, सहस्र-सहस्र बलिदानों के गीत जन-शक्ति के प्रतीक बनते रहे।

एक दूसरे गीत में लोक-कवि दुलीचन्द ने लन्दन का दृश्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है—

—'घर घर लेडी लन्दन रोवें
गांधी बनो गले का हार
घुटवन कर दई गवरमेंट
अब वा के थोथे बाजें हथियार
बर ततइया जैसे चिपटन लागें
बेड़ा कौन लगावे पार
हाहाकर मचो लन्दन में, भैना !
अब रूठ गयो करतार
बाजी नांय पायें या लंगोटी वाले से
हाथ याके सत्याग्रह हथियार !
लन्दन कांपा गांधी बाबा
संग में और जवाहरलाल
अब तक तो भारत में, भैना !
मुफ्त मारा माल

नीयत विरुध होये जो राजा
वा को ऐसे ही बिगड़े हाल
नीयत विरुध रावण ने कीनी
लंका बिछो मौत का जाल।'

भगतसिंह के गीत की भांति दुलीचन्द की यह रचना भी भारतीय लोक-कविता का एक उत्कृष्ट नमूना है। लन्दन में मेमों के रुदन की कल्पना का आधार बदला लेने की भावना पर नजर आता है। मेमों को अपनी मृत्यु नजर आ रही है। भारत में अंग्रेजी राज के हथियार अब काम नहीं देते। भिड़ों की भांति भारतीय जनता अंग्रेजों को कट खाने को तैयार है। अंग्रेजों का भगवान रूठ गया। अब इस लंगोटी वाले (गांधी बाबा) से बाजी नहीं जीत सकते, क्योंकि उसके हाथ में सत्याग्रह का हथियार है। गांधी से डर कर लन्दन कांप उठा, क्योंकि उसके साथ जवाहरलाल है। बहिन, अब तक तो हमने मुफ्त ही भारत का माल उड़ाया। जिस राजा की नीयत बुरी हो जाती है उसका यही हाल होता है—रावण की लंका में भी तो मौत का जाल बिछाया था।

गांधी बाबा के साथ जवाहरलाल का नाम जोड़ कर लोक-कवि दुली-चन्द ने स्वतन्त्रता-संग्राम की परम्परा कायम रक्खी है।

अंग्रेज़ी शासन के प्रति कितनी घृणा और स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने वाले वीरों के प्रति कितनी आस्था रही है—इसका एक प्रमाण भारतीय लोक-साहित्य में मिलता है। जन-भावना की इस ऐतिहासिक और क्रांतिकारी परम्परा पर भारत का सिर गर्व से ऊंचा उठ जाता है।

बारह

भूख के गीत

लोकगीत का बचपन धर्म की छाया में व्यतीत होता है। अनेक गीत ऐसे मिलेंगे जिनका जन्म पूजा, पर्व, त्यौहार या व्रत के साथ होता है। कुल देवता के पूजा गीतों में शत-शत पीढ़ियों की आत्मा प्रतिबिम्बित हो उठती है। जन्म, विवाह तथा मृत्यु-सम्बन्धी विश्वास, शकुन, अपशकुन भूत प्रेतों की पूजा के मन्त्र और गीत, जादू-टोने तथा पशु पक्षिओं और वृक्षों सम्बन्धी विश्वास— इन सबके अध्ययन से हम देश की विचार-धारा से परिचित हो सकते हैं। पर यदि हम देश के लोकजीवन को समझना चाहें तो हमें उन गीतों की तलाश करनी होगी जिनमें जनता के आर्थिक जीवन तथा उनके सुख-दुख का गान मिलता है।

रात्रि की निस्तब्धता में किसी-न-किसी गीत के स्वर बार-बार गूंज उठते हैं, जैसे कहीं भूत प्रेत जगाये जा रहे हों। हो-ओ-ओ-ओ की तान बराबर गूंजती रहती है, और हमारा ध्यान मानव-सभ्यता के बीते हुए युगों की स्मृतियोंमें खो जाता है, जब सड़कें नहीं थीं, जब सघन में से गुज़रना पड़ता था।

मैक्सिम गोर्की ने रूस में लोकगीत आन्दोलन का आरम्भ करते हुए ठीक ही लिखा था, "जनता में भौतिक संसार की विभूतियों को ही पैदा करने की शक्ति नहीं होती, वह आध्यात्मिक विभूतियों को भी जन्म देती है, और इस जननी की गोद कभी खाली नहीं रहती। जनता सृष्टि का प्रथम दार्शनिक और आदि कवि है। संसार का श्रेष्ठ काव्य, सारे दुखान्त और इन सबसे ऊंची चीज़ यानी संसार की सभ्यता का इतिहास, इन सबका उसीने निर्माण किया है। आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर अपने जीवन के शैशव काल में ख़ाली हाथों ही प्रकृति से लड़ते हुए भय, आश्चर्य और उल्लास से भरकर उसने धर्म को जन्म दिया। यही धर्म का काव्य था, और इसीमें निहित था प्रकृतिशक्ति सम्बन्धी उसका सारा ज्ञान, सारा अनुभव, जो बाहर की विरोधी शक्तियों से संघर्ष द्वारा उसे प्राप्त हुआ था। प्रकृति पर अपनी प्रथम विजय से लोकजन स्वाभिमानी हुआ, उसे अपनी शक्ति का आभास मिला तदनंतर नई विजय की लालसा पैदा हुई। इसीने फिर उसको वीर गाथा की सृष्टि के लिए बाध्य किया, जो कि उसके निजी ज्ञान और नीतियों का संग्रह बन गया।

कालांतर में दन्तकथा और वीरगाथा मिलकर एक हो गए, क्योंकि जनता ने वीर नायक को अपना सामूहिक ज्ञान देकर कभी उसे देवताओं के समक्ष और कभी उनके विरोध में खड़ा किया। दन्तकथा और वीरगाथा में—जैसे कि उन की भाषा में भी—हमें किसी अकेले व्यक्ति के विचार नहीं, बल्कि समस्त जनता की सामूहिक रचना का आभास मिलता है।"

भारत में जहाँ पचासों भाषाएं बोली जाती हैं, इन बोलियों में सहस्रों गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में भूख और दुर्भिक्ष के स्वर पृथक व्यक्तित्व रखते हैं। संवत् १८५६ का दुर्भिक्ष देशव्यापी दुर्भिक्ष था। पर शायद सबसे अधिक कष्ट मारवाड़ ही को उठाना पड़ा था। आज भी वहाँ उस दुर्भिक्ष का स्मरण लोक-मानस को छू-छू जाता है—

—'छपनिया काल रे छपनिया काल
फेर मत आइयो म्हारी मारवाड़ में।
आइयो जमाइड़ो धड़कियाँ जीव
कां ते लाऊं शक्कर भात घीव, जमाइड़ो?
फेर मत आइयो म्हारी मारवाड़ में
छपनिया काल रे छपनिया काल
फेर मत आइयो म्हारी मारवाड़ में।

आगे चल कर यह स्त्री कहती है कि उसकी देवरानी के स्तनों का दूध भी सूख गया है, नहीं तो शायद इसी दूध की चार बूंदें जमाइड़ो के मुंह में टपका दी जातीं। यह गीत मारवाड़ के बाहर भी गाया जाता है। बहुत से ऐसे भिखारी परिवार मिलेंगे, जो शायद इसी दुर्भिक्षमें मारवाड़ छोड़ने पर मजबूर हो गए थे और वे ऐसे निकले कि फिर अपने घरोंको लौटनेका ध्यान ही भुला बैठे।

भूख के गीतों में हास्य और व्यंग्य रेखाएं भी मिलती हैं। उन्हें जनता की शक्ति का प्रतीक समझना चाहिए। हास्य और व्यंग्य तो मरघट और कब्रिस्तान तक कायम रहते हैं। इसीने जनता की फौलादी हड्डियों को हर किस्म की मुसीबत सह सकने के योग्य बनाया है।

वैरियर ऐलविन ने छपनिया सम्बन्धी एक गोंड लोकगीत ढूंढ निकाला है। इसमें परिया का ज़िक्र तो नहीं मिलता, पर अनुमान यही है कि इसकी रचना छपनिया के दिनों में हुई होगी। इससे चार वर्ष पूर्व भी छत्तीसगढ़ में दुर्भिक्ष पड़ा था, पर सन् १९०० के दुर्भिक्ष ने तो बहुत अधिक नुक्सान पहुंचाया था। फिर इसके ८ वर्ष बाद सन् १९०८ में और एक

बार फिर १९२१ में भी गोंडों को दुर्भिक्ष का कष्ट सहना पड़ा था। इन अवसरों पर सरकारी तौर पर और देश की ओर से भी जनता की सहायता की गई थी पर हजारों गोंड भूखे मौत के शिकार हो गए। लोकगीत में गोंड जनता की करुण पुकार सुनाई देती है—

—'इस वर्ष के दुर्भिक्ष ने हमें पागल बना डाला।
हम क्या करेंगे, भाइयो, हम क्या करेंगे?
अन्न बोने पर कुछ लाभ नहीं; जो बोया था वह भी काटना नसीब नहीं।
चलो हम अन्न से खाली टोकरियां उठाके चल पड़ें।
अच्छा पत्नी अपने पतिको समझाती है: चलो हम सड़क पर काम करें।
हम दो आना रोज कमायेंगे आधा कल के लिए बचा पायेंगे।
साहब एक गाँव से दूसरे गाँवको जाता है और अपना बंगला बनवाता है।
बूढ़ों को वह रुपया देता है बच्चों को वह अपने साथ बिठला कर खाना खिलाता है।
कोदों ने इस वर्ष अपना वचन याद रखा, कुतकी ने हमें ज़िन्दा रखा।
पहाड़ों के पैरों में ये दोनों अनाज हमारे लिए योंही पक कर गिर गये।
इस वर्ष के दुर्भिक्ष ने हमें पागल बना डाला।
हम क्या करेंगे, भाइयो, हम क्या करेंगे?'

और जब यह भूखी जनता सड़क पर मज़दूरी करती है, एक और गीत गूंज उठता है। वैरियर ऐलविन ने सड़क-मज़दूरों के गीत की बहुत प्रशंसा की है। उनका ख्याल है कि यह भूख और गरीबी की कड़ी आलोचना में 'कमीज़ के गान'से टक्कर ले सकता है। इस गोंड लोकगीतका मूल रूप मुझे बालाघाट जिले में वारासिवनी से प्राप्त हुआ। लय और शैलीकी दृष्टि से यह 'सजनी' कहलाता है जो इधर के गोंडों में व्यंग्य-गीत का संवरा हुआ नमूना माना जाता है—

आंगे न आंगी भूख प्यासे गोटा फोड़ऊं भरी घाम ओ
किरची दाई छक ने लगथे जीनो है मेरो हराम ओ
आंगे पसीना छक छक करथे नैनन चलिस पनार ओ
गिट्टी दाई खप ने गड़थे बहीस रक्त को धार ओ
गट्ट गट्ट खाके पैसा वारे घर ने ले थैं आराम ओ
गरमी जब सन सन तपथै चलै हमारो काम ओ
आगे वी तपथ बागे वी तपथ तप भुई असमान ओ

धूका जब तप के चलथै जाये न मोरो परान ओ
जवान जवानिन पट पट मरथैं छूटे न या पापी सास ओ
गोटा दाई कब तक फोड़ौं जीना से आइस तरास ओ
गरम बिछौना पै दुनिया सोथै बड़े दिवारी को जाड़ ओ
थर थर दाई गोटा फोड़ौं बस के जंगल पहाड़ ओ
तनिस बिछा के जब हम सोथन गाती बांध चार हाथ ओ
गजब जाड़ ने नींद न आवै तनिस बार जागैं रात ओ
अतरा मुसीबत गोटा फोड़ौं मिले दो आना रोज ओ
टुरा टुरिन को सब जिनगी को लगे रहे मोला सोच ओ
भोग्यों ने सुख में दाई दाऊ थर पाइयों न सुख ससुरार ओ
मरत्यो दाई अच्छी होतिस गइस मास रहिस हाड़ ओ
जल्दी मर के जाऊं सरग ने करौं अरज जोड़ हाथ रे
न दे बाबा अदमीपन ने अउर बना कछू जात रे

—'अंग पर अंगिया नहीं, भूखी प्यासी मैं गिट्टी तोड़ती हूँ।
इस भरे घाम में पत्थर की किरच छक की आवाज से मेरे शरीर पर टकराती है, मेरा जीना हराम है।
अंग पर पसीना छक-छक करता है, नयनों से आंसुओं का परनाला बहता है।
ओ मां, मेरे शरीर पर गिट्टी खप से चुभ जाती है, रक्त की धारा बह पड़ती है।
पैसे वाले गट्ट गट्ट खाना खाकर घर में आराम करते हैं,
जब गरमी सन-सन तपती है तो हमारा काम शुरू रहता है।
आगा भी तप जाता है, बाग भी ताप जाता है, भूमि और आकाश भी तप जाते हैं
जब लू तप कर चलती है, मेरे प्राण नहीं निकलते।
जवान छोकरे और छोकरियां पट-पट गिरकर मर जाते हैं, यह मेरा पापी सांस नहीं छूटता
ओ मां, मैं कब तक गिट्टी तोड़ती रहूँ? इस जान से मुझे घृणा हो गई है
दुनिया गरम बिछौने पर सोती है, दीवाली का जाड़ा पड़ रहा है,

ओ माँ, थर-थर कांपती हुई मैं गिट्टी तोड़ती हूँ इस जंगल पहाड़ में बस कर।
जब पयाल बिछाकर हम सोते हैं—चार हाथ की गाती बांधकर
गज़ब के जाड़े में नींद नहीं आती, पयाल जलाकर हम रात भर जागते हैं।
इतनी मुसीबत में मैं गिट्टी तोड़ती हूं दो आना रोज मिलता है।
जीवन भर मुझे बच्चे और बच्ची की सोच लगी रहेगी,
ओ मां, पिता के घर में मैंने सुख न भोगा, न सुसराल में सुख पाया
ओ माँ, मैं मर जाती तो अच्छा होता, माँस तो गया, हड्डियां रह गईं,
जी चाहता है जल्द मरकर स्वर्ग में जाऊं और हाथ जोड़कर अर्ज करूं,
बाबा, मुझे आदमी का जन्म न देना और कोई जन्म दे देना।'

गोंड कन्या के मुंह से भूख और गरीबी की यह पुकार सुनकर हमें लोकगीत की नई शक्ति का अनुभव होने लगता है। गोंड कन्या ही की तरह माड़िया कबीले का युवक भी फिर कभी आदमी का जन्म न पाने की बात सोचता है। बस्तर की पहाड़ियों में यह माड़िया लोकगीत बार-बार गूंज उठता है—

मन्नू नोटे नोर सावकारो, मन्नू नाटेनोर, मन्नू नाटेनोर सावकारो
नूनी ले वया, नूनी ले वया
तन्नू जीवते लंड मिन् दे, तन्नू जीवते, तन्नू जीवते ते लंड मिन् दे
नूनी ले वया, नूनी ले वया
तन्न जोकनी ते लंड मिन् दे, तन्नू जोकनी ते तन्नु जोकनी ते लंड मिन् दे
नूनी ले वया, नूनी ले वया
नरका पियाल बूसीतोर, नरका पियाल, नरका पियाल बूसी तोर
नूनी ले वया, नूनी ले वया
माकिन सावकार तिनतोरू, माकिन सावकार, माकिन सावकार तिनतोरू

नूनी ले वया, नूनी ले वया
मावा कन्नेड्डू पोइत्ता, मावा कन्नेड्डू, मावा कन्नेड्डू पोइत्ता
नूनी ले वया, नूनी ले वया
मावा कन्नेड्डू, ऊडोरू, मावा कन्नेड्डू, मावा कन्नेड्डू
नूनी ले वया, नूनी ले वया
मावा परों लागा मेन् दे, मावा परों, मावा परों लागा मेन् दे
नूनी ले वया, नूनी ले वया
अच्चाम नांगलीन बाडकीता, अच्चाम नांगलीन, अच्चाम नांगलीन बाड़कीता।
नूनी ले वया, नूनी ले वया
डोल्ली नेल्ला आईअर, डोल्ली नेल्ला, डोल्ली नेल्ला आईअर
नूनी ले वया, नूनी ले वया
माकू बेनोर जिवाकितोर, माकू बेनोर, माकू बेनोर जिवाकितोर
नूनी ले वया नूनी ले वया
ओंड्डू पुट्टल अन्ने बतकेला, ओंड्डू पुट्टल, ओंड्डू पुट्टल अन्ने बतकेला।
नूनी ले वया, नूनी ले वया
मानी पुट्टल इमाकी, मानी पुट्टल, मानी पुट्टल इमाकी
नूनी ले वया, नूनी ले वया
पिन्ने बोड्डे ता पुट्टल इवी, पिन्ने बोडडे, पिन्ने बोड्डे ता पुट्टल इवी
नूनी ले वया, नूनी ले वया

—'हमारे गाँव का शाहूकार, हमारे गाँव का, हमारे गांव का शाहूकार
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
उसके जी में धोखा है, उसके जीमें, जी में धोखा है
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
उसकी तराजू में धोखा है, उसकी तकड़ी में धोखा है
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
रात दिन वह हमें लूटता है, रात दिन, रात दिन वह हमें लूटता है
ओ छोकरी, ओ छोकरी,

हमें शाहूकार निगल जायगा, हमें शाहूकार, हमें शाहूकार निगल जायगा
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
हमारे आंसू वह नहीं देखता, हमारे आंसू, हमारे आंसू वह नहीं देखता
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
हमारे ऊपर कर्ज़ चढ़ गया, हमारे ऊपर, हमारे ऊपर कर्ज़ चढ़ गया
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
बैल शाहूकार ले गया, बैल शाहूकार ले गया
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
खाली हल क्या करेंगे, खाली, हम खाली हल क्या करेंगे
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
मर जाते तो ठीक था, मर जाते, मर जाते तो ठीक था
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
हमें कौन प्यार करेगा, हमें कौन, हमें कौन प्यार करेगा ?
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
दूसरे जन्म में दशा सुधर जाती, दूसरे जन्म में, दूसरे जन्म में दशा सुधर जाती
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
आदमी का जन्म न देना भगवान्, आदमी का जन्म, आदमी का जन्म न देना
ओ छोकरी, ओ छोकरी,
पंछियों का जन्म देना, पंछियों का, पंछियों का जन्म देना भगवान्,
ओ छोकरी, ओ छोकरी !'

गोंड कन्या ही की तरह माड़िया युवक मृत्यु की प्रतीक्षा किये जाता है। शाहूकार ने उसके लिए एक भयानक दैत्य का रूप धारण कर लिया है। उत्सवों पर जब सदैव सारा कबीला सामूहिक नृत्य के लिए जमा होता है उस समय भूख और ग़रीबी का यह गीत भी गाया जाता है, जैसे जीवन की सब खुशियों पर शोक छा रहा हो।

दुर्भिक्ष सम्बन्धी एक और माड़िया लोकगीत में जीवन के कठिन सत्य को बहुत समीप से गाया गया है—

मावा देसेन दुकाड़, दादा ले देसु दुकाड़ अत्ता, दादा ले
देसेन कोंदा डलता, दादा ले देसु दुकाड़ अत्ता दादा ले

अच्चाम नाँगेलिन बाड़कीतुम देसु दुक्काड़ अत्ता, दादा ले
दुक्काड़ देसेन बाड़वत्ते देसु दुक्काड़ अत्ता, दादा ले
निम्मा बत्तीन मर्मो डोलमूनतोन देसु दुक्काड़ अत्ता,दादा ले
गंगा ना पेपी जप के डोलतो देसु दुक्काड़ अत्ता, दादा ले
जनदे ना पेड़ी जट के डोलतो देसु दुक्काड़ अत्ता, दादा ले

—'हमारे देश में दुर्भिक्ष है, ओ भाई, देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
देश में बैल मर गये, ओ भाई, देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
खाली हलों को क्या करेंगे ? देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
रे दुष्काल, तू देश में क्यों आया ? देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
तू आया तो हम मर रहे हैं । देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
गंगा का दादा झट मर गया, देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई
जनदे की दादी शीघ्र मर गई, देश भर में दुर्भिक्ष पड़ गया, ओ भाई ।

दुर्भिक्ष के दिनों में जन-सहायता की दृष्टि से नई सड़कें तैयार की जाती हैं। बहुत थोड़ी मज़दूरी पर लोग जमीन खोदने और गिट्टी कूटने के लिए चले आते हैं। आधे पेट भोजन पाकर यह कठिन काम और भी कठिन मालूम होता है । एक माड़िया लोकगीत में सड़क के मज़दूरों की आवाज़ सुनाई देती है—

ईदू बेना आपेते दादा, ईदू बेना आपेते दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
जरूँ ऊबाम पेइत्ता दादा,जरूँ ऊबाम पेइत्ता दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
पोटा ता तिण्डू इलवाले दादा,पोटा ता तिंडू इलवाले दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
ईदू बेना आपेते दादा, इदू बेना आपेता दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
कलकू उसानद मेन देले दादा, कलकू उसानद मेन देले दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
काइक नगा बोइटा वत्ता दादा,काइक नगा बोइटा वत्ता दादा
दादा ले वया, दादा ले वया

सोबेन काइतगा दुम्मुस मनदे दादा,सोबेन काइतगा दुम्मुस मनदे दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
पाइकाल मन पर्रो आलाम अत्तोर दादा, पाइकाल मन पोर आलाम अत्तोर दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
एर ईसकाट एर इसकाट दादा,एर ईतकाट एर ईतकाट दादा
दादा ले वया, दादा ले वया
मन देसेम लाट सड़क दादा, मन देसेम लाट सड़क दादा
दादा ले वया, दादा ले वया

—'यह कैसी आफ़त है भाई, यह कैसी आफ़त है भाई,
ओ भाई, ओ भाई ।
बहुत पसीना निकला भाई, बहुत पसीना निकला भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
पेट में अन्न नहीं भाई, पेट में अन्न नहीं भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
यह कैसी आफ़त है भाई, यह कैसी आफ़त है भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
हम को बस पत्थर कूटना है भाई, हम को बस पत्थर कूटना है भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
हाथों में छाले पड़ गये भाई, हाथों में छाले पड़ गये भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
सबके हाथों में दुरमट हैं भाई, सब के हाथों में दुरमट हैं भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
जमादार हम पर नाराज़ होता है भाई, जमादार हम पर नाराज़ होता है भाई
ओ भाई, ओ भाई ।
पानी छिड़को पानी छिड़को भाई, पानी छिड़को पानी छिड़को भाई
ओ भाई, ओ भाई ।

हमारे देश की लम्बी सड़क है भाई, हमारे देश की लम्बी सड़क है भाई
ओ भाई, ओ भाई।'

उधर एक छत्तीसगढ़ी गीत में रावत दम्पति की बातचीत सुनिये —

छरीला बेचौं, मेढ़ीला बेचौं
बेचौं भैंसी बगार
बनी भूती में हम जी जावें
सोवो गोड़ लमाय
छेरी न बेचौं मेढ़ी न बेचौं
न बेंचौं भैंसी बगार
मोले मही में हम जी जावो
औ, बेचौं तोहूला घलाय
कौन तोरे करिहो रामै रसोई
कौन करे जेवनार
कौन तोरे करि ही पलंग बिछौना
कौन जोहे तोर बाट
दाई करि है रामै रसोई
बहिनी करे जेवनार
सुलखी चेरिया पलंग बिछैहै
औ, मुरली जोहै मोर बाट
सासा डोकरिया मरहट जैहे
ननदि पठौ ससुरार
सुलखि चेरिया हाटन बिकै है
औ, मुरली नदी में बहाय
दाईला रख हूं अमरावखा के
बहिनी रखूं छै मास
सुलखी चेरिया बांधी छांदी रख हूँ
मुरली ला रख हूँ जी में डार

—'मैं बकरी बेच दूंगी, भेड़ बेच दूंगी
बगार की भैंस भी बेच दूंगी
मेहनत मज़दूरी करते हुए मैं जी लूंगी

'मैं बकरी नहीं बेचूंगा, भेड़ नहीं बेचूंगा
न बगार की भैंसें ही बेचूंगा
दूध दही बेचकर मैं जी लूंगा
और मैं तुझे बेच डालूंगा।'
'कौन करेगा तेरी राम रसोई ?
कौन तुम्हें भोजन करायेगा ?
कौन करेगा तेरा पलंग बिछौना ?
कौन तेरी राह देखेगा ?'
'मां करेगी मेरी राम रसोई
बहन मुझे भोजन करायेगी
सुलखी नौकरानी पलंग बिछौना करेगी
और मेरी मुरली मेरी राह देखेगी।'
'सास बुढ़िया मर कर हट जायगी
ननद ससुराल को चल देगी
सुलखी नौकरानी हाट बाजार में बिक जायगी
और मुरली नदी में बह जायगी।'
'मां को अमृत पिलाकर जीवित रखूंगा
बहन को छै मास अपने पास रखूंगा
मुरली को जी में डालकर रखूंगा।'

रावत दम्पति का गीत उसी मुरली के स्वरों में डूबा हुआ है जिसे रावत सदैव अपने जी में डालकर रखता है। इसमें काफ़ी उत्तेजना है। ज़िन्दादिली भी है। रावत को अमृत कहां से मिलेगा ? सुलखी नौकरानी की बात भी स्वप्न की वस्तु है। यहां तो भूख और गरीबी से छुटकारा नहीं। बकरी और भेड़ और भैंसे बेचकर पिछला सब कर्ज़ चुकाने का प्रश्न है।

उधर ब्रजभूमि में भी भैंस बेचने की बात चल रही है। पत्नी समझाती है कि भैंस को बेच डालने का ख्याल हटा देना चाहिए—

मत बेचै बालम भैंसिया
लड़का मही कूं जायेंगे
साग तरकारी न होएगी
मींड़ रोटी खायेंगे, बड़े प्रेम सों—

मेरी परौसी के द्वै द्वै भैंसियाँ
धमके होत फटै छाती
सेर का बाँट बिनौरे
घिउ द्वै मन डरौ डूंड़ पै
का छाय रही भैंस मूंड़ पै
—'भैंस मत बेचो, बालम !
हमारे लड़के छाछ के लिए भटकेंगे।
साग तरकारी न होगी
तो बड़े प्रेम से छाछ में रोटी भिगो-भिगो कर खा लेंगे।
मेरी पड़ौसिन के घर में दो-दो भैंसें है
उसके दूध बिलोते समय आवाज गूंजेगी और डाहसे मेरी छाती फटेगी।
सेर भर सानी और बिनौले ही तो उसे चाहिएं
दो मन घी की प्राप्ति तो निश्चित ही है
भैंस क्या तुम्हारे सिर पर सवार है ?'

जहाँ यह सत्य है कि भूख और निर्धनता ने लोकगीत की सुन्दरता और सरलता को बहुत हद तक बदल कर रख दिया है, वहां यह भी सत्य है कि इससे लोकगीत की परम्परा में यथेष्ट वृद्धि हुई है।

तेरह

सुरहिन और सिंह की गाथा

अशोक का स्मृति-चिह्न अनेक बार मेरी कल्पना को एक झटका-सा देने लगता है, और मेरी दृष्टि एक सिंह से हटकर दूसरे सिंह पर और फिर तीसरे सिंह पर जम जाती है। यह सिंह-त्रिमूर्ति संस्कृति के विकास की प्रतीक है, क्योंकि मूर्तिकार ने एक सिंह के मुख पर क्रोध प्रदर्शित किया है तो दूसरे सिंह के मुख पर शांति और तीसरे सिंह के मुख पर गंभीरता। इस त्रिमूर्ति की ओर देखकर ही कदाचित् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—'सिंह और गाय एक ही घाट पर पानी नहीं पीते, यह बात सत्य है। किन्तु कब? जब सिंह भी अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और गाय भी पूर्ण गाय हो जाती है। बचपन में दोनों एक साथ खेल भी सकते हैं। किन्तु बड़ा हो जाने पर सिंह भी कूद कर झपटता है और गाय भी भागने की चेष्टा करती है।'

अशोक की सिंह-त्रिमूर्ति की पृष्ठभूमि में मानव संस्कृति और अहिंसा का अभिनन्दन निहित है। सिंह की हिंसा वृत्ति पर अहिंसा की विजयका बखान जातक कथाओं में भी बहुत मिलता है। इधर नवीन अनुसंधान से पता चला है कि बौद्ध जातककालीन कथाएं वस्तुतः बुद्ध के जमाने से बहुत पुरानी हैं और लोक-कथाओं के रूप में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक युग-युगांतर से इनका प्रचलन चला आया है। इसी प्रकार अशोक की सिंह-त्रिमूर्ति भी किसी-न-किसी रूप में अशोक से पहले भी इस देश में रही होगी। अशोक का श्रेय इतना ही है कि उसने सिंह-त्रिमूर्ति को संस्कृति के उच्चासन पर प्रदर्शित किया, ठीक उसी तरह जैसे जातक साहित्य में पुरातन लोक-कथाओं को अपना कर नये अर्थों में विभूषित किया गया था।

सिंह के मुख पर शांति दिखाकर कलाकार क्या कहना चाहता है? फिर इसी शांति के स्थान पर गंभीरता की मुद्रा उपस्थित करते हुए कलाकार का संदेश कहाँ तक जा पहुंचता है? ये प्रश्न आज के नहीं। मानव के भीतर जो पशु सदैव निहित रहता है उसे भी तो इसी सिंह की भांति शांति और गंभीरता की सहायता से निभाना होगा। जैसे राग और ताल के अनुसार गीत का रस बदलता है, या जैसे रेखाओं की सबलता और रंगों के साहचर्य द्वारा चित्रकार

रस की विभिन्न झांकियाँ उपस्थित करता है, जनता की सामूहिक रचना-शक्ति भी लोक कला में अग्रसर होते हुए समाज की प्रगतिशील संस्कृति का अभिनन्दन करती है। अशोक की सिंह-त्रिमूर्ति इस संस्कृति की अमर कविता है जिसे मूर्तिकार ने अपनी छैनी द्वारा पत्थर पर मूर्तिमान कर दिया है। सिंह का पराक्रम मानव की चिर-प्रिय वस्तु है। किन्तु युग-युगान्तर से मानव यह भी तो कल्पना करता आया है कि यदि किसी प्रकार सिंह के पराक्रम में शांति और गंभीरता का संचार हो जाय तो सिंह का पराक्रम अत्यन्त सुन्दर नज़र आने लगे। सच पूछो तो भारतीय संस्कृति को शांति और गंभीरता विरासत में मिली हैं। शांति और गंभीरता न हों तो अहिंसा की कल्पना भी असम्भव है।

भारतीय लोकगीतों में भी शांति और गंभीरता का बार-बार आह्वान किया गया है। यों प्रतीत होता है कि जनता युग-युग से संस्कृति का मुंह इन्हीं सद्गुणों की ओर मोड़ती आई है। गगनचुम्बी हिमालय के नयनाभिराम प्रदेशोंमें घूमिये विशाल मैदानों में—जनता के संगीत में अहिंसा की प्रतिध्वनि अवश्य सुनाई देगी। पराक्रम महान् वस्तु है। परन्तु दया भी कुछ कम महान् नहीं। सहानुभूति और प्रेम का गठबंधन न हो तो बात नहीं बनती। स्वरों और रंगोंके बीच का सम्बन्ध सहानुभूति और प्रेम पर ही तो टिका रहता है। जनता पुरुषार्थ के नये-नये आदर्शों की चाहवान रही है। अहंकार नहीं चाहिये। क्रूरता भी अनावश्यक है। जोश चाहिए, किन्तु न्यायहीन जोश का भी क्या लाभ ?

श्री बाबा कालेलकर ने एक स्थान पर लिखा है कि नल राजा के हंस को पकड़ने या एक-आध सिंह के नन्दिनी गाय के धर दबोचने के दुःख का वर्णन हमारे कवियों ने किया है, एक निषाद ने क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को बाण से भेद डाला तो बाल्मीकि की शाप-वाणी ने सारी दुनिया के हृदय को भेद कर इस अन्याय की ओर उसका ध्यान खींचा। इतना होते हुए भी पशु-पक्षियों का या गाय-भैंस का सामुदायिक दुःख अभी तक किसी ने गाया है,ऐसा मन में विचार उठता भी नहीं है। किन्तु लोक कला के अध्ययन से यह शिकायत सब दूर हो जाती है।

सहानुभूति की प्रेरणा से अहिंसा की भावना सजीव हो उठती है। यहीं से कला और जीवन में आत्मैक्य आरम्भ होता है, यहीं से वस्तुतः मानव के भीतर बसने वाला पशु विनीत होने लगता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि कला

में अहिंसा की अभिव्यक्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं। इसके पीछे शताब्दियों का संघर्ष निहित है।

गाय लोक-जीवन की विशेष विभूति है। वैदिक कवियों ने जिस रूप में गायका अभिनन्दन किया है वह संसारके साहित्यमें अद्वितीय है। लोक-कथाओं और लोकगीतों में भी गाय के प्रति कुछ कम आत्मैक्य नहीं दिखाया गया। बुन्देलखण्ड की जनता से देवी का भजन सुनिये और उनके इस 'अहिंसा के विजय-गान' की परख कीजिये—

दिन की ऊँघन किरन की फूटन
सुरहिन बन को जायँ हो माँ
इक बन चालीं, सुरहिन दुज बन चालीं
तिज बन पौंचीं जाय हो माँ
कजली बन में चन्दन हरो बिरछा
जांसुरहिन मों डारो, हो माँ
इक मों घालो सुरहिन, दुज मों घालो
तिज मों सिंघा गुंजार, हो मां
अब की चूक बगस बारे सिंघा
घर बछरा नादान, हो मां
को तोरो सुरहिन लाग-लगनियां
को तोर होत जमान, हो मां
चन्दा-सुरज मोरे लाग-लगनियां
बनस्पति होत जमान, हो मां
चन्द-सुरज दोई ऊँगै अथैवें
बनस्पति झर जाय, हो मां
धरती के वासऊ मोरे लाग-लगनियां
धरती होत जमान, हो मां
इक बन चालीं सुरहिन दुज बन चाली
तिज बन बगर रम्हानी, हो मां
बन की हेरीं सुरहिन टगरन आईं
बछरे राम्हइ सुनाई, हो मां
आओ आओ बछरा पीलो मेरो दुधवा
सिंघा बचन हार आई, हो मां

हारे दुधुआ न पियों, मोरी माता
चलों तुमारे संग, हो मां
आंगे-आंगे बछरा, पीछें-पीछें सुरहिन
दोऊ मिल बन को जायं, हो मां
इक बन चाली, सुरहिन दुज बन चाली
तिज बन पौंची जाय, हो मां
उठ-उठ हेरे बन के सिंघा
सुरहिन आज न आई हो मां
बोल की बांदी, बचन की सांची
एक से गई, दो से आई, हो मां
पैले, ममइयां, हमई को भखालो
पीछे हमाई मात, हो मां
एक से गईं, दो से आईं, हो मां
पैले ममइयां, हमई को भखा लो
पीछे हमाईं माय, हो मां
कोने, भनेजा, तोय सिख बुध दीनी
कोन लगे गुर कान हो, मां
देवी जालपा सिख बुध दीनीं
वीर लंगर लगे कान, हो मां
जो कजली बन तेरो भनेजा
छुटक चरो मैदान, हो मां
सौ गऊ आगे सौ गऊ पांछे
होइयो बगर के सांढ़ हो, मां

—'दिन ऊँघता है, किरणें फूट रही हैं,
गाय बन को जा रही है, अहो मां!
एक बन चली, गाय ने दूसरा बन भी पार किया,
वह तीसरे बन में जा पहुंची—अहो मां!
इस कदली वन में चन्दन का हरा वृक्ष है,
जिस पर गाय ने मुंह डाल दिया है, अहो मां!
एक बार मुंह डाला, गाय ने दोबा·· ··· डाला,

तीसरी बार मुंह डालने लगी थी कि सिंह दहाड़ उठा—अहा मा !
'इस बार मेरी चूक बख्श दो, बारे सिंह !
पीछे घरमें बछड़ा नादान है ।' —अहो
'कौन तेरा गवाह होगा, ओ गाय ?
कौन होगा तेरा जामिन ?'—अहो मां !
'चाँद और सूर्य मेरे गवाह हैं !
बनस्पति होती है मेरी जामिन ।'—अहो माँ !
'चाँद और सूर्य दोनों ऊंघते हैं और अस्त होते हैं !
बनस्पति भी झड़ जाया करती है !'—अहो माँ
'धरती का वासुकि नाग मेरा गवाह है !
धरती हो रही है मेरी जामिन !'—अहो मां !
एक बन चली, गाय ने दूसरा बन पार किया,
तीसरे बन में, बगर में पहुंच कर वह रंभाने लगी ।—अहो मां !
इस बन को देख-भालकर गाय ग्राम के करीब पहुँची;
उसने बछुड़े को रंभा सुनाया ।—अहो माँ !
'आओ मेरे बछड़े आओ, दूध पी लो ।
मैं सिंह को वचन दे आई हूँ ।' अहो मां !
'वचन दे आई हो, तो मैं दूध न पीऊंगा, ओ मेरी मां !
मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा !'—अहो मां !
आगे-आगे बछड़ा है, पीछे-पीछे गाय;
दोनों मिलकर बन को जा रहे हैं ।—अहो माँ !
एक बन चली, गाय ने दूसरा बन पार किया
वह तीसरे बन में जा पहुँची ।—अहो माँ !
उठ-उठकर सिंह ताक रहा है—
उठ-उठ कर सिंह ताक रहा है—
'गाय आज नहीं आई !—अहो माँ !
वह बोल की बांदी और वचन की सच्ची निकली !
अकेली गई थी, दूसरे को भी लाई !'—अहो माँ !
'पहले, ओ मामा, मुझे खा लो,
पीछे मेरी मां को !'—अहो माँ !
'किसने, ओ भानजे, तुझे यह सीख, यह बुद्धि दी ?

किस गुरु ने तुम्हारे कान में मन्त्र दिया ?' अहो मां !
'जालपा देवी ने मुझे सीख और बुद्धि दी है !
वीर लंगूर (देवी का सेवक) ने कान में मन्त्र दिया !
'यह कदली वन अब से तेरा है, ओ भानजे !
छुटकारा पाकर मैदान में चरते फिरो ! ओ माँ !
एक सौ गायें तुम्हारे आगे रहें, एक सौ पीछे;
तुम बगर के साढ़ बनो !' —अहो माँ !'

सिंह के हृदय में दया उमड़ आई, और बछड़ा और गाय साफ छूट गये। इसी गीत का एक रूप युक्त प्रान्त और बिहार के कुछ जिलों में प्रचलित है—

लम्बी लम्बी गैया के डूंड़ी डूंड़ी सींग
चरै चोथि जाय गैया जमुना के तीर
चरि चोंकि गैया पानी पीऐ जाई
बाघ बघनिया घाट छेंकै आइ
छोड़ो रे बछवा मोरे पनिघाट
हम है पिआसी पानी पिऐ देउ
घर से आइब बछरू पिआइ
तब तू हम का लीहा खाइ
जो तू गैया जैबे बछरू पिआइ
हम का दिह जा सखिया गवाह
चांद सुरुज दुनौ सखियां गवाह
अइबै हे बाधा बछरू पिआइ
आउ बच्छा रे पीले दूध डभकोरि
सबेरे हम जाब अपने नैहर की ओर
रोज त आवो माइ हौंकरत चोंकरत
आजु तारे मनुवा काहें मलीन
आजु की रात बच्छा रहबै तोरे पास
होत बिहान होवे बाधे क अहार
जौ तूँ जाबिउ माता बाघ के पास
हमहूँ क लिहेउ गोहनवा लगाय
आगे आगे बछरू कुलांचत जाय

पीछे पीछे गैया विष मातलि जाय
जाइ के पहुँची गैया बाघ के पास
मामा कहि बाछा किहा सलाम
आवहु मोर मामा मोहिं भच्छि लेहु
पीछे भच्छेहु आपनि बहिन
गैया मोरी बहिनी बछौवा मोर भैने
जाइ के बाछा रहौ केदारी के बन में

—'लम्बी गाय के छोटे-छोटे सींग हैं
चरने-चोंकने के लिए गाय जमुना के तीर पर जाती है
चर-चोंक कर गाय पानी पीने गई।
बाघ और बाघिन ने आकर घाट घेर लिया
'छोड़ो बछवा, मेरा पनघट।'
मैं प्यासी हूँ, मुझे पानी पीने दो,
घर जाकर मैं बछड़े को दूध पिलाकर आ जाऊँगी
तब तुम मुझे खा लेना'—
'यदि तुम बछड़े को दूध पिलाने जाओगी, हे गाय
तो मुझे गवाह साक्षी देती जाओ।'
'चाँद और सूर्य दोनों मेरे गवाह हैं
हे बाघ, मैं बछड़े को दूध पिलाकर आऊँगी।'
'आओ, हे बछड़े, पेट भरकर दूध पी लो,
सवेरे मैं अपने नैहर जाऊँगी।'
'रोज तो तुम हुँकरती-चुंकरती आती थीं,
आज तुम्हारा मन क्यों मलिन है ?'
'आज की रात, हे बेटा, मैं तुम्हारे पास रहूँगी
सवेरा होते ही मैं बाघ का आहार बन जाऊंगी।'
'यदि तुम बाघ के पास जाओगी, हे माँ,
तो मुझे भी साथ लेते चलना।'
आगे-आगे बछड़ा कुलांचें मारता हुआ जा रहा है
पीछे-पीछे गाय क्रोध-विष में मतवाली होकर जा रही है।
गाय बाघ के पास जा पहुँची।
मामा कह कर बछड़े ने बाघ को सलाम किया।

'आओ, मेरे मामा, पहले मुझे खा लो
पीछे अपनी बहिन को खा लेना।'
गाय मेरी बहिन है और बछड़ा मेरा भानजा
हे बछड़े, जाकर कदली वन में रहो।'

सुरहिन और सिंह की गाथा कर्नाटक में भी प्रचलित है। भाषाएँ जुदा सही भीतर से समस्त देश का हृदय एक ही है। संस्कृति की यह एकता राष्ट्र की वास्तविक शक्ति है।

त्राहि माम् !

एक आधुनिक कवि ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि आज युगारम्भ हो रहा है और युग के विराट् चरण जन-पथ पर गूंज रहे हैं। आज धरती के महान् स्वर अम्बर को चूम रहे हैं। आज जीवन जीत गया। आज उजले इतिहास के सिंहद्वार पर मानव जाग उठा। शताब्दियों का अन्धकार दूर हुआ। मानवता को नव-प्रस्फुटित पुष्प मिल गया। तिमिर-घिरे जन-मन के नये क्षितिज खुल गये।

युग के विराट् चरण जन-पथ पर गूंज रहे हैं—कवि ने ठीक चित्रण किया है। मेरी कल्पना में एक दृश्य सजीव हो उठता है— पश्चिमी पंजाब की ओर जहां से लाखों नर-नारियों के चालीस-चालीस, साठ-साठ मील लम्बे क़ाफ़िले पूर्व पंजाब की ओर आ रहे हैं। यात्रा सुरक्षित नहीं, स्थान-स्थान पर उन्हें छुरों का शिकार अथवा गोलियों का निशाना बनना पड़ता है, फिर भी ये काफिले चले आ रहे हैं, मातृभूमि की ओर।

भारत को स्वतन्त्रता मिली, और पंजाब को स्वतन्त्रता का मूल्य चुकाना पड़ा। देश का विभाजन हुआ, सीमाप्रान्त और पश्चिमी पंजाब की अल्प-संख्यक जनता अपने घर छोड़ने पर मजबूर हो गई। सिन्ध का भी यही हाल हुआ, बलोचिस्तान का भी। मानव ने मानव पर कितने अत्याचार किए, और वह भी स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि में; कितनी बार हिंसा का दैत्य लाशों पर नाचा-कूदा, कितना रक्त गिरा, कितने सिर कटे !

जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और सहस्रों सिपाहियों के अतिरिक्त निहत्थी जनता भी लहूलुहान हुई, तो गुरु नानक का हृदय यह दृश्य देखकर बुरी तरह घायल हुआ। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने एक कविता में भगवान् को सम्बोधन करके लिखा—

> एती मार पई कुरलाणे
> तैं की दर्द न आया
>
> 'इतनी मार पड़ी कि लोग रोने लगे,
> क्या तुझे दर्द न आया ?'

इतिहास साक्षी है कि इसी पंजाब की धरती पर सिक्ख-आंदोलन जोरों पर चला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कुशल चित्रकार की भांति अत्यन्त वेगमयी तूलिका से गुरू के मन्त्र द्वारा जागृत सिक्ख का चित्र अंकित किया है—

पंच नदीर तीरे
वेणी पकाइया शीरे
देखिते देखिते गुरुर मन्त्रे
जागिया ऊठिल शिख
निर्मम निर्भीख

'पांच नदियों के किनारों पर
सिरों पर जूड़े बांध-बांध कर
देखते-देखते गुरु के मन्त्र से
सिक्ख जाग कर खड़ा हो गया
निर्मोह और निर्भय सिक्ख !'

एक बार इतिहास ने फिर पलटा खाया। आज लाखों शरणार्थी चले जा रहे हैं—बाप, दादा के घर छोड़कर, उपजाऊ धरती छोड़कर ! युग के विराट् चरण जन-पथ पर गूंज रहे हैं।

पंजाब के अनेक शरणार्थी भारत की राजधानी दिल्ली में आ पहुँचे हैं। उनमें से कुछ तो शरणार्थी शिविरों में रहते हैं, कुछ अपने सम्बन्धियों के पास। कुछ लोग हवाई जहाज़ से यहां पहुंचे, उन्हें देखने से पता चलता है कि भले ही लाखों लोगों पर संकट आ गया हो, यह लोग आज भी निर्धन नहीं और चाहें तो बहुतों को खरीद सकते हैं। पर यहां तो उनकी बात हो रही है जो बे-घर-बार के राही हो गए, जिन्हें यह सब मूल्य इसलिए चुकाना पड़ा कि देश स्वतन्त्र हो गया।

आज भी मेरी कल्पना में बार-बार सतलुज और व्यास के बीच के दोआब का लोकगीत प्रतिध्वनित हो उठता है—

छड्ड के देश दुआबा
अम्बीयां नूं तरसेंगी

—'दोआब प्रदेश को छोड़कर
तुम आमों के लिए तरसा करोगी।'

इस गीत की रचना उस समय हुई होगी जब कोई कन्या किसी ऐसे युवक से ब्याही जा रही होगी जिसे कहीं लायलपुर की ओर की भूमि मिल गई हो। सतलुज और ब्यास के बीच के दोआब में आम बहुत होते हैं। इन्हीं आमों का लालच दिखाकर किसी छुटपन के मित्र ने इस कन्या को सलाह दी कि यदि अब भी उसका बस चल सके तो वह वहां ब्याह न कराये। सोचता हूं कि अब तो वह कन्या स्त्री बन चुकी होगी। कदाचित् वह भी किसी काफिले के साथ अपनी मातृभूमि की ओर लौट रही हो। पर इसका भी क्या विश्वास कि वह ठीक मंजिल पर पहुंच सकेगी।

कोसों तक फैली हुई धरती पर अग्रसर होते शरणार्थियों के काफिलों को मैं शिव की तीसरी आंख से देख रहा हूं। लेखक की भी तीसरी आंख होनी ही चाहिए। नदियां उसी तरह चली जारही हैं बल्कि उनमें भी बाढ़ आ गई। सड़कें टूट गईं, पुल टूट गए। काफ़िले कैसे आगे बढ़ें? मानव पर मानव का अत्याचार क्या कुछ कम था कि प्रकृति को भी इस अन्याय-होड़ में भाग लेने का शौक चुराया!

आखिर बाढ़ टली! काफ़िले फिर से चलने लगे। सूनी-सूनी चरागाहों के पार मैं काफ़िलों को चलते देख रहा हूँ। आज यह चित्रमयी धरती उदास है, वट-वृक्ष उदास हैं, पीपल उदास हैं। आज सूर्य भी उदास है। पंच नदीर तीरे...आज रवीन्द्रनाथ ठाकुर जीवित होते तो शायद इन्हीं स्वरों में इस काफ़िले का गीत रचते और मैं उनसे कहता—गुरुदेव, कहीं-न-कहीं इसमें सतलुज और ब्यास के बीच के दोआब के आमों का जिक्र अवश्य कर दीजिये।

'ये कैसे शरणार्थी हैं?'—दिल्ली की सड़क पर किसी खाते-पीते शरणार्थी परिवार को देखकर मेरा मित्र कह उठता है—'ये तो हमें शरणार्थी बनाने आए हैं।' उस समय मेरा ध्यान झट उन काफ़िलों की ओर उठ जाता है जो पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब की ओर आ रहे हैं।

दिल्ली में शरणार्थी हैं, आगरा, लखनऊ, इलाहबाद, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई सब जगह शरणार्थी पहुंच रहे हैं—मैं अपने मित्र को समझाता हूँ, 'तुम तो व्यर्थ डर गये।'

वह मुझे छेड़ने के लिए कह उठता है—'शायद तुमने नहीं सुना। मद्रास वालों ने तो लिख भेजा है कि हम रुपये भेज सकते हैं, पर शरणार्थियों को नहीं ले सकते। शरणार्थी स्त्रियां वहां पहुँचीं—लिपस्टिक लगा कर। मद्रास

वाले तो सीधे-साधे लोग हैं। वे डर गये कि ये तो उनकी स्त्रियों को भी उलटे-उलटे फैशन सिखा डालेंगी।'

मैं अपने मित्र को समझाता हूँ कि अभी तो लाखों शरणार्थियों के काफ़िले पश्चिमी पंजाब से पूर्वी-पंजाब की ओर आ रहे हैं। लिपस्टिक का प्रयोग करने वालों की गिनती बहुत थोड़ी है। इन्हें देखकर वास्तविक चित्र को देखने की बात मत भूल जाओ।

मातृभूमि स्वतन्त्र हुई। पर शरणार्थियों का सब-कुछ छिन गया शरणार्थियों का प्रत्येक काफ़िला हाथ उठाकर पुकार रहा है—त्राहिमाम् ! त्राहिमाम् !

अनेक शरणार्थियों की लाशें नदियों और नहरों में फेंक दी गईं—अनेक कन्यायें और स्त्रियां छीन ली गईं। पर काफिले रुके नहीं।

कहां है आज वह युवती जो बार-बार गा उठती थी—

छल्ला पिया बनेरे
वस्स नहीं मेरे
काहनूं पानां ऐ फेरे
वस्स मेरी मां दे
घल्लेगी ते जांगे
शाबा मेरे छल्लिया
दाना पानी चल्लिया
छल्ला पिआ खूह ते
आवे साडी जूह ते
गल्लां करिए मूंह ते
वस्स नहीं मेरे
काहनूं पानां ऐ फेरे
वस्स मेरी मां दे
घल्लेगी ते जांगे
शाबा मेरे छल्लिया
दाना पानी चल्लिया
छल्ला चिट्टी चांदी
सौकन पै गई मांदी
जुत्ती पुच्छन जांदी

वस्स नहीं मेरे
काह्नूं पानां ऐ फेरे
वस्स मेरी मां दे
घललेगी ते जांगे
शाबा मेरे छल्लिया
दाना पानी चल्लिया
छल्ला मेरे हथ्थ दा
पुत्त मेरी सस्स दा
भेत नहिओं दस्स दा
काह्नूं पानां ऐ फेरे
वस्स मेरी मां दे
घल्लेगी ते जांगे
शाबा मेरे छल्लिया
दाना पानी चल्लिया
छल्ला नौ नौ थेवे
पुत्त मुठ्ठे मेवे
जिन्हां नूं रब्ब देवे
वस्स नहिओं मेरे
काह्नूं पानां ऐ फेरे
वस्स मेरी मां दे
घल्लेगी ते जांगे
शाबा मेरे छल्लिया
दाना पानी चल्लिया

—'छल्ला मुंडेल पर पड़ा है
मेरे अधिकार में कुछ नहीं
क्यों बार-बार आते हो ?
सब मेरी मां के अधिकार में है
वह मुझे भेजेगी तो जाऊंगी।
शाबास, मेरे छल्ले
मेरा दाना-पानी खत्म हुआ।
छल्ला कुएं पर पड़ा है

यदि तुम हमारे ग्राम की सीमा पर आयो
हम आमने-सामने बातें करें
क्यों बार-बार आते हो ?
मेरे अधिकार में कुछ नहीं ।
सब मेरी मां के अधिकार में है,
वह मुझे भेजेगी तो जाऊंगी ।
शाबाश, मेरे छल्ले
मेरा दाना-पानी खत्म हुआ
छल्ला श्वेत चांदी का है
मेरी सौत कमज़ोर पड़ गई
मेरी जूती उसे पूछने जाती है
मेरे अधिकार में कुछ नहीं
क्यों बार-बार आते हो ?
सब मेरी मां के अधिकार में है,
वह मुझे भेजेगी तो जाऊंगी ।
शाबाश, मेरे छल्ले,
मेरा दाना-पानी खत्म हुआ
यह मेरे हाथ का छल्ला है ।
मेरी सास का पुत्र भेद नहीं बताता ।
क्यों बार-बार आते हो ?
सब मेरी मां के अधिकार में है,
वह मुझे भेजेगी तो जाऊंगी ।
शाबाश, मेरे छल्ले,
मेरा दाना-पानी खत्म हुआ
छल्ले में नौ-नौ नग लगे हैं
पुत्र मीठे मेवे होते हैं
जिनको भी भगवान् प्रदान करे ।
मेरे अधिकार में कुछ नहीं,
क्यों बार-बार आते हो ?
सब मेरी मां के अधिकार में है
वह मुझे भेजेगी तो जाऊंगी ।

पन्द्रह

लोकगीत कुठाली में

लोकगीत की शत-सहस्री मौलिकता अनेक जनपदों में युग-युगान्तर से गौरवान्वित होती रही है। इसकी कोई एक भाषा नहीं, कोई एक परम्परा नहीं। प्रत्येक भाषा में, प्रत्येक परम्परा में सुख-दुखकी धड़कन, आशा-निराशा की प्रतिक्रियाएँ और सामाजिक समस्याओं के बहुमुखी आन्दोलन आप-ही-आप प्रतिबिम्बित हो उठते हैं।

सन् १९३४ में ज्वायंट पार्लामैंट्री कमेटी ने मुग़ल कालीन भारत की आर्थिक रूप-रेखा अंकित करते हुए लिखा था—"शाही शानो शौकत जनता की गरीबी का पैमाना बन गई थी।" अंगरेज़ी हकूमत पर भी यह राय ठीक उतरती थी, क्योंकि ग़रीबीकी पृष्ठभूमि में देहली की तड़क-भड़क देखकर किसी भी भावुक व्यक्ति के हृदय पर सख्त चोट लगती रही है।

मिनू मसानी ने आधुनिक भारत का सिंहावलोकन करते हुए लिखा है— 'साधारण किसानों को अपनी पत्नी और तीन बच्चों समेत २७ रुपये मासिक पर गुज़ारा करना पड़ता है—कोई एक रुपया रोज़ाना पर। ऐसी फ़ाकामस्ती, मैले-कुचैले और खराब घरों में बच्चे पैदा होते हैं कि अभी वे एक साल के भी नहीं हो पाते कि मक्खियों की तरह मर जाते हैं।"

शुरू में भारतीय जनता ने अंगरेजी अमलदारी को संदेह की निगाह से नहीं देखा था। किसानों का ख्याल था कि ग्राम की रग-रग, रेशे-रेशे में नया जीवन दौड़ने लगेगा। इसीलिए युक्त प्रान्त में एक गीत द्वारा नये युग का स्वागत किया था—

जोबन फरर फरर फरोय
जैसे अंग्रेजन का राज

—'जोबन खुशी-खुशी फहरा रहा है
अंग्रेज़ों के राज ही की तरह।'

बहुत जल्द यह तिलस्म टूट गया। 'सन् १८५७ में भारत ने स्वतन्त्रता संग्राम के रूप में करवट बदलनी चाही। पर यह संग्राम असफल रहा। इसके पश्चात् भारत में अंग्रेज़ी राज्य और भी शक्तिशाली और विशाल होता

चला गया । बनते-बदलते जीवन के रंग देखकर एक बार फिर लोक-मानस में हर्ष की लहरें उठीं । उस समय के पंजाबी गीतों में हम जनता को इन नये रंगों का स्वागत करते देखते हैं—

पुत्त जीन वे फरंगिया तेरे
पिण्ड विच्च रेल आगी
—'फिरंगी ! तेरे पुत्र जीते रहें,
गाँव में रेल आ गई ।'
तेरा जस तिंजनां विच्च गावां
नमे वे कनूनां वालिया
—'तेरा यश चरखे की महफिलों में गाती हूँ,
हे नये कानूनों वाले !'
नमे कनूनां नूँ,
रब्ब ने वधाई दित्ती !'
—"नये कानूनों को
भगवान् ने बधाई दी !'
रब्ब दी सिफत करो
जीहने भेजते फरंगी साडे सुख नूँ !
—'भगवान् की प्रशंसा करो
जिसने हमारे सुख के लिए फिरंगी भेज दिये ।"
सोहणा राज अंग्रेजी
पिण्ड पिण्ड डाकिया फिरे
—'अंग्रेजी राज्य सुन्दर है
गांव-गांव में डाकिया घूमता है ।'
तेरा राज कदी न जावे
नहराँ बनौन वालिया
—तेरा राज्य कभी न जाए,
हे नहरें बनाने वाले !'
सोहना नां फिरंगी,
चंगा पुत्त चंगी मां दा !
—'फिरंगी सुन्दर नाम है,
वह अच्छी मां का अच्छा पुत्र है ।"

आरम्भ का हर्ष बहुत शीघ्र एक लम्बी वेदना सिद्ध हुआ, और पंजाबी किसान ने भूख और ग़रीबी का गीत छेड़ दिया—

हल पंजाली दी हो गई कुरकी
बेच के खा लया बी
मामला नहीं तरिया
एक वाही दा लाहा की

—'हल और जुए की कुरकी हो गई
बीज का अनाज बेच खाया
लगान अदा न हो सका,
लाभ क्या है इस खेती का ?'

जगह-जगह थाने क़ायम हुए और पुलिस का दबदबा छा गया। पुलिस की छोटी-से-छोटी चौकी अंग्रेज़ी क़ानून का झण्डा फहराती थी। पंजाबी किसान ने लोक-कथा की भाषा में इसे यों चित्रित किया—

'महादेव और पार्वती हिमालय से नीचे आये तो हिन्दुस्तान का रंग बदल चुका था।

पार्वती बोली "यह तो वह बात हुई महादेव जी कि आई थी आग लेने और घर वाली बन बैठी।"

महादेव बोले "यह सब देशभक्ति और एकताकी कमीका फल है। अब सारे हिन्दुस्तान पर अंगरेजी झण्डा लहराएंगे। ऐसे लोग पैदा हो चुके हैं जो अंगरेजी राज्य की जड़ें मज़बूत करेंगे।"

पार्वती ने कहा "मुझे भी दिखाओ ये लोग।"

महादेव हँसने लगेः "लो अभी लो, पार्वती, अच्छा आँखें बन्द करो।"

पार्वती ने आँखें बन्द कर लीं और महादेव ने न जाने क्या मन्त्र पढ़ा। लाल पगड़ी वाला एक आदमी आकर महादेव के समीप खड़ा हो गया।

महादेव बोले—"लो अब देख लो ध्यान से, पार्वती !"

पार्वती ने इस अजीब आदमी को देखा और वह हँसकर बोली, "लाल पगड़ी वाला !"

महादेव भी हँसने लगेः "ये लोग दोपहर को पैदा होते हैं। पुलिस में अंगरेज़ इन्हीं की भरती करता है।"

लाल पगड़ी वाले ने एक हाथ महादेव की दाढ़ी की तरफ़ बढ़ाया और

दूसरे हाथ से पार्वती की वेणी पकड़ने का यत्न किया। पार्वती और महादेव झट आलोप हो गये।'

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"हिन्दुस्तान पर हकूमत करने का ब्रिटिश दृष्टिकोण पुलिस राज का दृष्टिकोण था........हिन्दुस्तान में ब्रिटिश अधिकार से हमें अमन नसीब हुआ और उन सब तकलीफों और मुसीबितों के बाद जो मुतवातिर सहनी पड़ती थीं, हिन्दुस्तान को यक़ीनी तौर पर अमन की जरूरत थी। अमन हर प्रगति के लिए कीमती और आवश्यक चीज़ है। अमन आया तो हमने इसका स्वागत किया। पर अमन भी एक बहुत बड़ी कीमत पर खरीदा जासकता है। और हम क़ब्र का मुकम्मल अमन और पिंजरे या जेल का पूरा बचाव हासिल कर सकते हैं। या उन लोगों की अवस्था में जो अपनी हालत सुधारने के योग्य नहीं, अमन गुम-सुम निराशा के अनुरूप होता है। अमन, जिसे विदेशी हुकूमत लादती है, कदाचित् ही असल चीज़ की शान्ति-पूर्ण और सुखकारी सिफ़तें रख सकता है।"

नये पंजाबी लोकगीत में ईश्वर और देवता भी पुलिस से डरते हैं। गाँव की हर हरकत पर थाना आँख रखता है, ज़रा-ज़रा-से तनाजे फ़ौजदारी मुकदमों का रूप धार लेते हैं—

रब्ब डाढा वी डरिया
ठाणेदारां तों

—'जबरदस्त खुदा भी डर गया है
थानेदारों से !'

रब्ब मोइया देवते भज्जगे
राज अंग्रेजाँ दा

—'ईश्वर मर गया, देवता भाग गये
अंग्रेजों का राज है !'

अरजी पा देऊँगी
मेरी गुत्त दे विचाले ठाणा

—'मैं मुकदमा कर दूँगी
मेरी वेणी के बीच में थाना है !'

ठाणेदारा सोच के करीं
तीली लौंग दा मुकद्दमा भार

—'हे थानेदार ! सोचकर फैसला करना
तीली और लौंग का मुकदमा पेचीदा है।'

तीली और लौंग दो भूषण हैं जिन्हें स्त्री नाक में पहनती है—दाईं तरफ तीली और बाईं तरफ लौंग। सदियों से यही नियम चला आता है। तीली छोटी होती है और लौंग बड़ी, यद्यपि इसका आकार इच्छा के अनुसार छोटा-बड़ा हो सकता है। तीली हमेशा एक ही आकार की होती है। अब शायद लौंग अपने बड़े आकार पर मग़रूर होकर तीली की जगह पर अधिकार जमाना चाहता है, इसलिए कि यों स्त्री का सौंदर्य दोबाला हो जायगा; तीली और लौंग थाने में पेश होते हैं। जितनी देर में स्त्री का हाथ अपनी वेणी तक पहुँचता है, उतनी ही देर में वह थाने में पहुंच सकती है !

लोहे के पहियों पर रेल चलती है। मोटर लारी कच्चे रास्ते की भी परवाह नहीं करती। आसमान पर जहाँ पहले पत्ती ही उड़ते थे, हवाई जहाज उड़ते हैं। पेन्शन-भोगी सिक्ख सिपाही गाँव की चौपाल में बैठकर नई ईजादों पर लोक-कथा की भाषा में सोचता है—

—'पहले खुदा ने रेल बनाई। अंग्रेज़ इसे ज़मीन पर ले आया और फिर उसने अनगिनत रेलों के जाल फैला दिए। जिधर रेल जाती, उधर अंग्रेज़ का राज भी फैल जाता था।

फिर खुदा ने मोटर लारी बनाई। एक अमरीकन उसे जमीन पर ले आया और उसने करोड़ो मोटर लारियां तैयार कर लीं। जहां रेल नहीं पहुंची थी वहां लारी पहुंचने लगी। अंग्रेज़ और अमरीकन मालामाल हो गये।

फिर खुदा ने हवाई जहाज़ बनाया। इसे एक जर्मन उड़ा लाया और उसके अपने बनाए हुए लाखों जहाज़ हवा के रास्तों पर गश्त करने लगे। अंग्रेज़ और अमरीकन के नफे में से जर्मन ने हिस्सा बँटाना शुरु किया।

जब हिन्दुस्तानी पहुंचा, खुदा के पास कोई काम की चीज़ बाकी न थी जिसे लाकर वह भी दुनिया में कुछ तरक्की कर सकता।

खुदा ने कहा: "पहले क्यों न आया ?"

हिन्दुस्तानी बोला: "भूल हुई, खुदाया!"

खुदा ने कहा: "अब मुझे ही उठा ले चल।"

और फिर खुदा को देखकर हमारे भाइयों में छीना-झपटी शुरू हुई

उन्होंने खुदा को मार डाला। अब तो हम खुदा की लाश के टुकड़े करने पर तुले हुए हैं।

हिन्दुस्तानी किसानों में खुदा और मजहब का अवलोकन करते हुए सैयद मुत्तलबी फरीदाबादी ने लिखा है—"इनके बारेमें यह कहना कि वे फ़लाँ मजहबके मानने वाले हैं, बहुत दुशवार है, क्योंकि वे अन्ध विश्वासी हैं। अकसर मज़हबी अक़ीदों के बारे में वे यह अंदेशा रखते हैं कि अगर वह सही हुए तो नुकसान न पहुंच जाय? इसलिए इनको मान लो। नहीं तो इनकार की सूरत में कहत पड़ जाय या पैदावार न हो या मवेशियों और आदमियों में बीमारी फैल जाय। ईश्वर या खुदा, मज़हबी अवतार, पीर पैगम्बर और देवताओं को वे केवल इसी वजह के सबब तसलीम कर लेते हैं। मगर जब वर्षा नहीं होती या कम होती है तो वे अपनी सीधी-सादी ज़बान में ईश्वर को फ़ोहश गालियां देते नज़र आते हैं या खुदा के जुल्म पर बहुत नाराज़गी का इज़हार करते हैं,यद्यपि शुरू-शुरूमें उसे रज़ामन्द रखनेके लिए गेहूँ के दज़िये,चावल की गंजियां भी उसके नाम पर दान-पुन्य और खैरात करने के लिए पकाकर खुद खाते और औरों को खिलाते हैं। तमाम हिन्दू देहात में जहां एक मुसलमान का भी घर नहीं होता, पीरों के फ़रज़ी मज़ार मिलते हैं जिन पर चढ़ावे चढ़ाये जाते हैं और मन्नतें मानी जाती हैं और फ़रज़ी पीर साहब की करामातें बयान की जाती हैं। मुसलमान देहात में माताओं के मठ और खेड़ा दीवट नज़र आते हैं, औरतें जिन पर खील बतासे चढ़ाती हैं कि कहीं बच्चों को शीतला न निकल आय या खेड़े का देवता नाराज़ होकर कोई और मुसीबत नाज़ल न कर दे। ग़रज मज़हबी विश्वास इस शकोशुबहा की बुनियाद तक है कि कहीं वे सही न हों। पण्डित और मुल्लाका गांव में ज़रूर इक़तदार होता है लेकिन इसका सबब मज़हबी इक़ीदत नहीं है बल्कि ब्याहशादी, किरिया-करम,तजहीज़ो तकफ़ीन की रस्मों की अदायगी उनके ज़रिये होती है और तावीज़, गण्डों, टोने-टोटकों से वे गांव के अन्दर अपना असर रखते हैं। पंजाब के कुछ ज़िलों में पीरों का बहुत असर है। लेकिन इसमें भी मज़हबी अकीदत के बजाय यह हकीकत काम करती है कि वे सब बहुत बड़े ज़मींदार और जागीरदार हैं और उनके ज़ुल्मों की धाक और सख़ावत की झूठी शोहरतें उनके इक़तदार का कारण हैं। और यह शुबहा भी 'शायद कि पलंग खुफ़्ता बादशा' (शायद चीता सोया हुआ हो) उनको पुजवा रहा है जो किसानों की मज़हबी अक़ीदत का असल उसूल है।"

पुराने देवता गिर रहे हैं, नये देवता खड़े हो रहे हैं। कट्टर-पन्थी रस्म-रिवाज और निरर्थक मजहबी अन्धविश्वास सब खत्म हो जायंगे। भारतीय ग्राम प्रत्येक वस्तु को आज ध्यान से देखता है। अपने अतीत की बची-खुची शक्ति के सहारे वह अपने भविष्य को उज्वल करना चाहता है।

जाट का मुँह कुल्हाड़े से चीरा गया, यह एक पंजाबी लोक-कथा है—

—'ब्रह्माने दुनिया बनाई तो पार्वतीने महादेवसे कहाः "चलिये,महाराज हम भी देखकर आयें।"
चलते-चलते वह एक ऐसे आदमी के पास से गुजरे जिसके चेहरे पर मुँह का निशान कहीं नजर न आता था।
पार्वती ने पूछा : "महादेव जी, यह कौन है ?"
महादेव बोले : "यह जाट है।"
पार्वती ने हैरान होकर कहा : "और सब लोगों के तो मुँह हैं, महादेव जी, यह बेचारा बोलेगा कैसे ?"
महादेव ने जवाब दियाः "पार्वती ! इसका बोलना ठीक नहीं।"
पार्वती को दया आ गई। बोली : "नहीं; महाराज, इसका मुँह जरूर बनाओ।"

महादेव ने बहुत समझाया पर पार्वती ने एक न मानी। महादेव के पास एक कुल्हाड़ा था। उन्होंने इस से जाट का मुँह बना दिया और उसके करीब होकर कहाः "बोल, मेरे प्यारे !"

—'झट जाट के होंठ हिले और आवाज आईः "क्या है, मेरे साले ?"
और महादेव बोलेः "सुन लिया श्लोक, पार्वती ? मैंने कहा न था कि यह बग़ैर मुँह ही के ठीक रहेगा।'

ग्राम का साहूकार किसान को मुँह-फट समझता आया है। इस राय के पीछे शताब्दियों का इतिहास है। मध्य वर्गने हमेशा किसानको दबाकर रखनेमें उच्च वर्ग की सहायता की है। छोटा नागपुर के एक उराँव लोकगीत में कानून के भार से दबे हुए किसान ने व्यंग्य के स्वरों में बहुत महत्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है—

—'ये क़ैदी पत्ती, ये चौपाये, ये सब जानदार
अपने होठों से लिखते हैं।
यह अंग्रेजी राज

और यह अदालत के मुन्सिफ का हुकम,
वे अपनी मन-मरज़ी की बात लिखते हैं !'

क़ानून का डर हमेशा मन पर सवार रहता है। धीरे-धीरे ही सही क्रांति के सलाह-मशवरे तो होते ही रहते हैं। एक गोंड लोकगीत में जो हिदायत दर्ज है उससे पता चलता है कि डरते-डरते ये जंगलवासी कुछ तै कर रहे हैं—

धीरे बता, धीरे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता
गायों कुटवार सुनन न पावे
तेरी रिपोट मेरी कर देहै, धीरे बता
धारे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता
गायों पटवारी सुनन न पावे
तेरी शिकैत मेरी कर देहै, धीरे बता
धीरे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता
मालगुजारा सुनन न पावे
तेरी पँचैत मेरी कर देहै, धीरे बता
धीरे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता
थाने दरोगा सुनन न पावे
तेरी चलान मेरी कर देहै, धीरे बता
धीरे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता
सियोनी के साहब सुनन न पावे
तेरी जेल मेरी कर देहै, धीरे बता
धीरे बता कोई सुन लेहै, धीरे बता

—'धीरे बता, धीरे बता, कोई सुन लेगा, धीरे बता !
गाँव का कोतवाल सुनने न पाए
तेरी मेरी रिपोर्ट कर देगा, धीरे बता
धीरे बता कोई सुन लेगा, धीरे बता !
गाँव का पटवारी सुनने न पाए
तेरी मेरी शिकायत कर देगा, धीरे बता
धीरे बता, कोई सुन लेगा, धीरे बता !
ज़मीदार सुनने न पाए
तेरी मेरी पंचायत कर देगा, धीरे बता
धीरे बता, कोई सुन लेगा, धीरे बता !

थाने का दारोगा सुनने न पाए
तेरा मेरा चालान कर देगा, धीरे बता
धीरे बता, कोई सुन लेगा, धीरे बता !
सियोनी का अंग्रेज़ अफ़सर सुनने न पाए
तेरे मेरे लिए जेल का हुकम दे देगा, धीरे बता
धीरे बता, कोई सुन लेगा, धीरे बता !'

सहमे हुए दो प्रेमियों का यह गीत पक्षियों की उस कोशिश की ओर संकेत करता है जो उड़ने से पहले उनके पंखों में जमा हो जाती है । ये दो प्रेमी गोंड जनता के प्रतीक हैं !

युक्त-प्रान्त के ग्रामों में जाग्रत किसान कवियों के गीत प्रगतिशील लोक-गीत में शामिल हो रहे हैं,जैसा कि हाजरा बेगम लिखती हैं: "पिछले साल जब मैं महीने में एक बार गाँव में किसान सभाके काम के लिए जाती थी तो मुझको मालूम हुआ कि किसानों में भी नए साहित्य का शौक पैदा हो रहा है और अकसर दिनभर के काम के बाद जब हम अपने वालंटीयरों की टोली के साथ स्टेशन लौटते तो मुकामी कार्यकर्त्ता वालंटीयरों से 'क़ौमी गाने' गाने की फ़र-माइश करते । ये गाने साहित्यिक दृष्टिकोण से अच्छे न सही । लेकिन मैं इतना जानती हूँ कि दिनभर की दौड़-धूप के बाद हम अपने लाल झण्डे ज़रा और ऊँचे उठा लेते थे और हमारे क़दम कुछ और तेज़ीसे उठने लगते थे । गो मैं ज़्यादा गीत जमा न कर सकी लेकिन दो एक लिख लिये थे। उन्हें नमूनेके तौरपर भेजती हूँ । कम-से-कम इन गीतों से हमारे उन प्रगीतशील कवियों को, जो 'किसान और 'मजदूर' पर हफ्तावार कविताएं लिखते हैं, यह अन्दाज़ा तो हो सकेगा कि उनकी भाषा और उनके सोचने और व्यक्त करने का ढंग देहातियों से कितनी दूर है।"

युक्त प्रान्त से प्राप्त दो नये किसान गीतों का हाजरा बेगम ने विशेष रूप से उल्लेख किया है—

कैसे करें समझौनी
बताय दिए कैसे करें समझौनी
पोत दिए जब तोरे घर आये
काटे पोत नजरौनी
बताय दिए कैसे करें समझौनी

मक्खनपुर से घोड़ा लियाइन
काटे पोत घोड़ौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
दूरी छतर से हाथी लियाइन
काटे पोत हथिऔनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
कलकत्ता से मोटर लियाइन
पोत कटे मोटरौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
कोठी उठाइन अटारी उठाइन
पोत कटे कोठौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
शादी ब्याही बिरही बरखी
रुपया धरा घियौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
थनक थनक नाचे पतुरिया
पोत कटे नचौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
बैठा चोर महल के भीतर
पोत कटे चोरौनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी
बरम किसोर नजर सब कट गई
बाकी गिरी खतिऔनी
बताय दिये कैसे करें समझौनी

—'कैसे करें समझौता,
बता दे कैसे करें समझौता ?
तेरे घर हम लगान देने आए
हमसे नजराना काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
मक्खनपुर से तुम घोड़ा खरीद लाए
हमसे 'घोड़ौनी' का चन्दा काट लिया

बता दे कैसे करें समझौता ?
दूर छतर से तुम हाथी ख़रीद लाए
हम से हथिऔनी का चन्दा काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
कलकत्ता से तुम मोटर लाए
हमसे 'मोटरौनी' का चन्दा काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
तुमने कोठी बनवाई, अटारी बनवाई
हमसे 'कोठौनी' का चन्दा काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
तुम्हारे घर ब्याह हुआ
हमसे घी की 'घिऔनी' का रुपया काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
तुम्हारे घर पतुरिया थनक-थनक नाची
हमसे 'नचौनी' का चन्दा काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
तुम्हारे महल में चोर घुस बैठा
हमसे 'चोरौनी' का चन्दा काट लिया
बता दे कैसे करें समझौता ?
ब्रह्मकिशोर कहता है सब नज़राने कट गए
खाते की 'खतिऔनी' की फीस बाकी रहती है
बता दे कैसे करें समझौता ?'

हमरे फूटे ही कर्मवा लिखी दिये ना
गरमी का कनवा सहे सही पनिया बरसत हो
ले हर खेतवा पर जाय पड़े ना
जाउर काँपी काँपी खेतवा सेंची पड़ेना
इतनी कमइया पर पेट भर दनवा नाहीं मिले ना
तन ढाँपने की ओढ़नवा अब तो नाहीं मिले ना
नाहीं कऊ बैद न हकीम डाकटरवा मरे पड़े ना
हमरे कुकरे की मौतिया मरे पड़ेना
थनेदार तहसीली जिमींदारन जुलमवा सहे पड़े ना

हमकी कठिन रे बेगारिया सही पड़े ना
अनवा की ढेर रही बही दूध नदिया नाहीं मिले ना
बहुत का सोइया अब जागत जा किसान भइया जागत
जा मजूरा
मिलन आप अपिया मनवा बिपता दूरी करेना

—'हमारे कर्म फूटे हुए ही लिख दिए।
हम गरमी सहते हों चाहे पानी बरसता हो,
हल लेकर हमें खेत को जाना पड़ता है,
जाड़े में कांपते-कांपते खेत सींचना पड़ता है,
इतनी कमाई वाले होकर भी भरपेट अन्न नहीं मिलता।
न कोई वैद्य है न हकीम, यों ही मरना पड़ता है
हमें कुत्ते की मौत मरना पड़ता है।
अन्न के ढेर थे, दूध की नदियां बहती थीं, अब तो कुछ नहीं मिलता
बहुत सो लिया अब जाग जा, किसान भाई, जाग जा, मजदूर
अपने मन जोड़कर यह विपदा दूर करो

जनता के इसी करुण क्रन्दन को सुनकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'बदलते हुए ज़माने' का सिंहावलोकन करते हुए लिखा था—"मनुष्य का वह सर्वोच्च न्यायालय कहाँ है जिसके सामने आघात-पीड़ित अपनी अन्तिम अपील लेकर जा सकें ? तो क्या हमें मानवता का आशा-भरोसा त्याग देना होगा ? और इसका उत्तर पाने की निराशा में यह विचार मन में उठता है—पश्चिम का वर्तमान पतन कितना ही भीषण क्यों न हो, हमें अपना सिर ऊंचा रखकर उसका फैसला सुनाना ही होगा। हमें यह घोषणा करनी होगी कि उसने अपने हाथों अपनी कब्र खोद ली है। उसका विनाश निश्चय है, अन्यथा हमारी भी वही गति होगी। आज भी ऐसे आदमी मौजूद हैं, जो अपने इस मत की घोषणा करने के बदले में यन्त्रणा और मृत्यु तक को स्वीकार करने को तैयार हो जाते हैं—यही हमारे लिए सबसे बड़ी बात है। भाड़े के टट्टुओं के डण्डे उन की हड्डी-पसली भले ही तोड़ डालें, पूर्व युग वालों की तरह वे हाथ जोड़कर 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' नहीं कहते। हम कभी इस बात को स्वीकार न करें कि जिसके हाथ में शक्ति है, वह भूल-चूक से परे होता है। हमें खुले शब्दों में यह कहना चाहिए कि जिसके पास सबसे अधिक शक्ति है, उसका दायित्व भी सबसे अधिक है, और उसके अपराध उनके अपने ही मान-दण्ड से घोर-

तम। यदि कभी ऐसा दिन आ जाय, जब पीड़ित-दलित में अत्याचारी को सम्बोधित कर धिक्कार बोलने की शक्ति न रह जाय, तब निश्चय ही हमें मानना होगा कि नया युग अपनी सारी पूंजी खर्च कर एक दिन दिवालिया हो गया। और उसके पश्चात् बस—सर्वनाश!"

एक युग गया, दूसरा युग आया। भारत के कन्धों से गुलामी का जुआ उतर चुका है, और यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि जनता के दुःख-दर्द दूर होंगे और देश में फिर-से सुख का साम्राज्य स्थापित होगा।

प्रत्येक युग में लोक-साहित्य पर एक नई ही तह चढ़ जाती है। घिसे-पिसे शब्द जीवनकी दौड़में पीछे रह जाते हैं। इनके स्थानपर नये शब्द नये-नये भावों का भार ढोने के लिए लोक-मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं।

मौखिक परम्परा को जीवित रखने वाली शक्तियां उस हल की तरह अग्रसर होती हैं जिस पर धरती की निचली तह को ऊपर लाने का उत्तरदायित्व रहता है। लोक-साहित्य की प्रयोगशाला में बराबर नये-नये प्रयोग हुआ करते हैं। प्रत्येक प्रयोग की स्वरलिपि पृथक होती है। प्रत्येक प्रयोग का सांस्कृतिक मूल्य न्यूनाधिक होता है, पर प्रत्येक प्रयोग न केवल राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है, बल्कि इन प्रयोगों में प्राचीन और नवीन के विलीनीकरण और एकीकरण के बहुमूल्य प्रयास भी निहित रहते हैं।

अंग्रेजी शासन काल के गीत कुठाली में पिघलते सोने की तरह हैं। इनका कोई निश्चित, रूप स्थिर नहीं हो पाया है।

निर्देशिका